आचार्य शुक्ल और चिन्तामणि

(प्रशासनिक सेवाओं के सन्दर्भ में, मनोविकार विषयक 10 निबध)

श्रद्धेय अग्रज,
प्रोफेसर राजेन्द्र कुमार वर्मा जी के लिये
सादर,
प्रेमकान्त टण्डन
2.5.93

डॉ॰ प्रेमकान्त टण्डन
वरिष्ठ एसोशियेट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अभिव्यक्ति प्रकाशन

आचार्य शुक्ल और चिन्तामणि

प्रथम संस्करण : 1993

डॉ० प्रेमकान्त टण्डन

प्रकाशक
अभिव्यक्ति प्रकाशन
847, विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद 211 002

वितरक
ज्ञान भारती
14/15 पुराना कटरा, इलाहाबाद

लेजर कम्पोजिंग
जे एण्ड जे कम्प्यूटर्स
71A/4A, पूरा दलेल, अल्लाहपुर
इलाहाबाद

मुद्रक
एडवांस क्रिएटिव सर्विसेज़
इलाहाबाद - २११ ००३

मूल्य
तीस रुपया

आचार्य शुक्ल और चिन्तामणि

"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"

Let noble thoughts come to us from every side

—*Rigveda*

अनुक्रम

❑❑❑

निबंध : स्वरूप, परिभाषा और लक्षण

यह आज तक तय नहीं हो पाया है कि निबंध का स्वरूप ठीक-ठीक कैसा और क्या है । कदाचित् तय हो भी नहीं सकता ।

सामान्यतया औसत आकार और सीमित विषय वाली गद्य-रचना को निबंध कहा जाता है । साहित्य की यह विधा मुख्यतया रचनाकार के व्यक्तित्व की प्रकाशिका होती है । परन्तु एक भिन्न रूप में निबन्ध निर्वैयक्तिक विषय-प्रधान और तर्कपुष्ट-विचारपरक भी होता है ।

हिन्दी मे 'निबंध' शब्द अंग्रेजी के 'एसे' और 'कम्पोजीशन' शब्दो के लिए और उनके अर्थों मे प्रयुक्त होता है ।

मूलतः निबन्ध-विधा की जन्म-भूमि यूरोप है । वहाँ इसका उद्‌भव अभिजातकालीन प्राचीन यूनान और रोम में ही हो गया था जहाँ यह प्लेटो के संवादो आदि मे अपने बीज रूप मे प्राप्त होता है । परन्तु उस समय लेखकों ने उसको 'निबन्ध' नाम नहीं दिया था । उपनिषदों म उपलब्ध निर्वैयक्तिक व्याख्यापरक संस्कृत गद्य मे यह भारत मे भी अपने बीजभूत रूप मे उपलब्ध माना जा सकता है । आधुनिक रूप मे, अर्थात् अपने वास्तविक और सर्जनात्मक रूप में [1] निबन्ध का सूत्रपात् सोलहवीं शताब्दी के फ्रांस और फ्रांसीसी साहित्य में मॉन्तेन द्वारा हुआ । प्रथम आधुनिक फ्रांसीसी निबंधकार मॉन्तेन ने ही सर्वप्रथम सन् 1580 में निबन्ध के लिए 'एसाई' [2] संज्ञा का प्रयोग करके इसके नामकरण का श्रेय भी प्राप्त किया । इसी समय यह विधा इंग्लैंड में भी विकसित हुई और वहाँ आधुनिक निबंध का श्रीगणेश अंग्रेजी के प्रमुख निबन्धकार फ्रांसिस बेकन [3] ने किया । क्रमशः आधुनिक निबन्ध यूरोप के अन्य देशो एवं भाषाओं में तथा अमरीका और भारत में भी पहुँचा ।

हिन्दी मे निबन्ध-विधा अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क और उसके माध्यम से आई है । यहाँ इसका सूत्रपात् यूरोप में इसके उद्‌भव के करीब ढाई सौ वर्षों बाद हो पाया ।

आज वैचारिक अभिव्यक्ति का यह विशिष्ट साहित्यिक माध्यम देश-विदेश में अत्यधिक विकसित एवं लोकप्रिय हो चुका है । 'विचार प्रसार के सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप' मे मान्यता देकर इसको विशेष गौरव भी प्रदान किया जा रहा है । इसके क्षेत्र, भेद-प्रभेद और आयाम मे बहुत विस्तार हुआ है । आज के निबन्धो की बहुविध अनेकरूपता को देखकर वस्तु,

---

1 MICHEL EYQUEM DE MONTAIGNE (1533--92)

2 'ESSAI' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मॉन्तेन ने अपनी 'ESSAI' शीर्षक रचना मे किया ।

3 सर फ्रांसिस बेकन (1561--1626) । इनकी ESSAIS शीर्षक रचना का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् 1597 मे हुआ था

उद्देश्य और शैली की दृष्टि से उनके विपुल वैविध्य का पता चलता है । शास्त्रीय स्तर पर भी निबन्ध के बारे में तरह-तरह की अवधारणाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं । फलस्वरूप इस विधा के सारे विकास-विस्तार के बीच इसकी रूपरेखा इतनी अनिश्चित हो गई है कि न तो इसके लक्षणों का निर्धारण हो पा रहा है, न इसके स्वरूप का कोई सुनिश्चित निरूपण संभव है और न ही इसकी कोई समुचित परिभाषा अभी तक प्रस्तुत की जा सकी है ।

देश-काल की गतिशील सापेक्षता में सचेतन रचनाकार की सर्जनात्मक कृति होने के कारण किसी भी साहित्य-विधा को सुनिश्चित परिभाषा में बाँध पाना संभव नहीं होता । फिर भी, अनेक दृष्टियों से लक्षण-निर्देश और स्वरूप-निरूपण करते हुए विधाओं को परिभाषित करने की परम्परा रही है । इसी क्रम में देश-विदेश के निबंधकारों और विद्वानों ने साहित्य की निबंध-विधा को भी परिभाषाबद्ध करने का प्रयत्न किया है । इन परिभाषाओं से निबन्ध-यात्रा के विभिन्न चरणों का विकास-क्रम भी लक्षित होता है ।

इस साहित्य रूप के लक्षण-निरूपण के संदर्भ में 'एसे' शब्द की व्युत्पत्ति विचारणीय है । फ्रांसीसी 'एसाई' और अंग्रेजी 'एसे' दोनों शब्द लैटिन भाषा के 'एग्जेजियर'[1] से निकले हैं और इन दोनो ही का अर्थ है--किसी वस्तु की प्रकृति या गुणवत्ता का परीक्षण करना या उसको परखना, प्रयत्न या प्रयास करना ।

इस अर्थ के अनुसार 'एसे' मे किसी भाव या 'विचार' की परीक्षा की जाती है, अथवा 'एसे' किसी भाव या 'विचार के प्रकाशन का प्रयत्न मात्र' होता है, उसमे उसकी सांगोपाग प्रस्तुति या विशद विवेचना या सम्यक् परिष्कारपूर्वक उसकी सुगठित नियोजना नहीं होती ।

शिप्ले के अनुसार, यहाँ 'प्रयत्न' शब्द 'अपूर्णता', अधूरेपन और कामचलाऊपन का द्योतक है ।[2] दोनों प्रथम आधुनिक निबंधकारों--मॉन्तेन और बेकन--ने 'एसे' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है ।[3] उदाहरण के लिए, मॉन्तेन के अनुसार 'असम्बद्धता और (तिकड़ी कूद की तरह) विषय को उछलते-कूदते-फाँदते हुए प्रस्तुत करने की चेष्टा' 'एसे' के लक्षण हैं ।[4] हडसन के अनुसार, मॉन्तेन का निबंध 'विचारों, उद्धरणों और उपाख्यानों का घालमेल है ।'[5]

स्पष्ट है कि मॉन्तेन के 'एसे' में असम्बद्धता, अनियमितता, अव्यवस्था, अपूर्णता, अपरिष्करण, अधूरेपन, कामचलाऊपन आदि लक्षणों की प्रमुखता है ।

इसी प्रकार बेकन 'एसे' को विच्छिन्न चिंतन की कड़ी[6] तथा 'आकुलता की अपेक्षा

---

1 EXAGIARE

2 जोसेफ टी शिप्ले, डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर, पृ॰ 145

3 विलियम हेनरी हडसन, इंट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ लिट्रेचर, पृ॰ 332

4 " discursiveness and going about his subject in a series of hops, and skips and jumps "-- वही," पृ॰ 334

5 " a medley of reflections, quotations, and anecdotes . " -- वही, पृ॰ 331

6 " a string of dispersed meditation'' --के॰ आर॰ श्रीनिवास आयंगर तथा प्रेमा नंदकुमार, इंट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इंग्लिश लिट्रेचर पृ॰ 208

अर्थवत्तापूर्वक की गइ संक्षिप्त टिप्पणी'[1] मानते हैं । उन्होने अपने निबधो को ऐसा 'लवण कण कहा है जो 'परितृप्तिजन्य अरुचि की अपेक्षा क्षुधा उत्पन्न करते हैं ।'[2] हडसन के अनुसार, बेकन का 'एसे' 'व्यक्त विचारों का सीम्मित विस्तारमय सान्द्र विमर्श' होता है ।[3]

अतः मॉन्तेन की भाँति बेकन भी अव्यवस्था, सक्षेप, लघुता, अपूर्णता आदि को 'एसे' का प्रमुख लक्षण मानते है ।

इस अनुक्रम ने अठारहवीं शताब्दी इंग्लैंड के डॉ० जान्सन,[4] द्वारा विशिष्ट रंजक पदावली मे की गई निबन्ध की परिभाषा भी विचारणीय है । डॉ० जान्सन के अनुसार, ''एसे मन का स्वच्छंद और तात्कालिक उद्रेक है । वह एक क्रमरहित, अव्यवस्थित खण्ड है, जो सुसम्बद्ध और परिष्कृत रचना नहीं होता ।''[5]

डॉ० जान्सन द्वारा दी गई इस परिभाषा मे तात्कालिक उत्पत्ति, अव्यवस्था और परिष्कारहीनता आदि तत्त्वो को निबध का प्रमुख लक्षण बताया गया है ।

मॉन्तेन की कुछ दूसरी टिप्पणियो से 'एसे' के एक अन्य मूल लक्षण का सकेत मिलता है । मॉन्तेन कहते हैं--''अपने निबन्धों मे मैं स्वयं अपने को चित्रित करता हूँ . उनमे मैंने स्वय अपने को समग्रतः और पूरे खुलेपन के साथ चित्रित करने का प्रयत्न किया है . . अपनी निबंध-रचनाओं का विषय स्वय मैं ही हूँ ।''[6]

अर्थात मॉन्तेन के अनुसार, निबन्ध एक व्यक्ति-प्रधान रचना है । निबन्धकार के स्वात्म-तत्त्व, उसके समग्र व्यक्तित्व की उन्मुक्त अभिव्यक्ति निबन्ध का एक अनिवार्य लक्षण है । निबन्ध निबन्धकार से अभिन्न[7] होता है ।

और वास्तव में जब जॉन्सन निबन्ध को 'मन का स्वच्छंद उद्रेक' कहते हैं तब वे भी निबन्ध के व्यक्ति-प्रधान होने का ही सकेत करते हैं ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यूरोप मे[8] आधुनिक 'एसे' के प्रारंभिक और प्राथमिक दौर में[9] लघु आकार, सीमित विषय, अव्यवस्था, विश्रृंखलता, स्वच्छंदता, वैयक्तिकता, आत्मतत्त्व की प्रधानता आदि को निबन्ध के मूल लक्षण माना गया ।

---

1 " brief notes set down rather significantly than anxiously ' हडसन, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ० 334
2 जो० ए० कुडन, डिक्शनरी आफ लिटरेरी टर्म्स, पृ० 244
3 'An essay of Bacon consists of a few pages of concentrated wisdom, with little elaboration of the ideas expressed ' -- वही, पृ० 334
4 डॉ० सैमुअल जॉन्सन (1709-84)
5 " an essay is a loose sally of mind an irregular, undigested piece, not a regular and orderly composition " -- वही, पृ० 331, हडसन
6 आयंगर पूर्वोद्धृत, पृ० 206
7 Consubstantial with the author, हडसन, पूर्वोद्धृत, पृ० 334
8 अर्थात् पाश्चात्य साहित्य में, फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य मे ।
9 सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक मॉन्तेन से डॉ० जान्सन तक

आकार की दृष्टि से निबन्ध एक लघु और औसत विस्तार वाली रचना है, इस प्रकार की दृष्टि से उसमे सीमित विषय का सीमित विवरण-विवेचन प्रस्तुत किया जाता है, जो सांगोपांग कतई नहीं होता, पद्धति की दृष्टि से निबध अव्यवस्थित, विश्रृखलित और अपरिष्कृत होता है, उसमे विषय की सुव्यवस्थित और सुनिश्चित प्रस्तुति कतई नहीं होती, उसमें कोई अंतर्निहित व्यवस्था भी अपेक्षित नहीं होती, तथा शैली की दृष्टि से निबन्ध एक स्वच्छद, व्यक्ति-प्रधान, सहज और उन्मुक्त रचना होती है ।

यदि रचना आकार में बृहद और प्रकार में व्यापकार्थक एव सांगोपांग हो जाय तो वह निबन्ध नहीं रह जायगी बल्कि प्रबन्ध [1] या शोध-प्रबन्ध [2] कही जायगी ।

परन्तु इतिहास की गतिशील धारा में निबन्ध अपने उपर्युक्त वर्णित प्रारंभिक स्वरूप तक ही सीमित नहीं रह सका है । वक्त के तकाजे ने कभी उससे अपेक्षाकृत अधिक अनुशासन की माँग की, कभी बौद्धिकता, तार्किकता और विचारशीलता की, कभी व्यवस्था और सुसम्बद्धता की तो कभी विस्तार और व्यापकता की । परिणामस्वरूप आज यह एक बहुत लचीला [3] और रूपान्तरणीय [4] माध्यम बन चुका है जिसकी अर्थव्याप्ति का दायरा बहुत बड़ा हो गया है । जैसा कि संकेत किया गया, इसके क्षेत्र, भेद-प्रभेद और आयाम में बहुत विस्तार हुआ है ।

इस तथ्य के बावजूद निबन्ध न तो प्रबोधन है, न धर्मोपदेश है, न सूचनाओं का पुलिदा, न शब्द-क्रीड़ा, न हँसी-दिल्लगी है और न कहानी-कहना ही है. फिर भी वह हो कुछ भी सकता है. . कोई असंगत या नगण्य वस्तु, कोई अकाव्यात्मक, भव्य, गम्भीर या त्रासद वस्तु, मूषक, उलूक, चाक का एक टुकड़ा, राजनीति, विज्ञान, समाजशास्त्र, कम्प्यूटर, गाँव की हाट आदि कुछ भी उसका विषय हो सकता है, आत्मकथा, जीवनी, फैंटेसी आदि कुछ भी . . . । बस, शर्त यह है कि रचना नीरस और उबाऊ न हो ।[5]

आज निबन्ध के अंतर्गत लघु-दीर्घ, व्यवस्थित-अव्यवस्थित, भावपरक-विचारपरक, वैयक्तिक-निर्वैयक्तिक, व्यावहारिक-शास्त्रीय, सपादकीय टिप्पणियाँ और संक्षिप्त साहित्यिक आलोचनाएँ, हँसी-ठिठोली और गंभीर चिंतनपरक खण्ड, गद्यात्मक-पद्यात्मक आदि तरह-तरह की रचनाओ का समावेश किया जाता है ।

आज 'निबन्ध' शीर्षक के अंतर्गत परिगणित की जाने वाली वास्तविक रचनाओं के प्रत्यक्ष अनुशीलन और 'निबन्ध' शब्द के अर्थ की व्याति के उल्लिखित दायरे के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि इधर 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग कम से कम तीन अर्थों में हो रहा है [6]--

---

1 ट्रीटाइज
2 डिजर्टेशन
3 Flexible
4 Adaptable
5 आयगर, पूर्वोद्धृत, पृ॰ 208
6 रामअवध द्विवेदी

(क) सर्वाधिक विस्तृत अर्थ-- पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित सभी सीमित आकार के गद्य लेख। इनका विषय कोई भी हो सकता है--व्यक्तिगत या वस्तुगत, इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, दैनिक जीवन से सम्बद्ध अथवा सम्पादकीय टिप्पणियाँ। पद्धति कैसी भी हो सकती है--व्याख्यात्मक, वर्णनात्मक, संस्मरणात्मक, गवेषणापूर्ण, आदि।

(ख) विशिष्ट अर्थ . कलात्मक निबन्ध-- किंचित साहित्यिक सौंदर्ययुक्त कलात्मक शैली के सीमित आकार वाले गद्य लेख। लेखक के दृष्टिकोण तथा विषय-विन्यास के ढग से इनमें आकर्षण उत्पन्न होता है। विषय की प्रधानता और उसका सतर्क निर्वाह होने पर भी पूरा निबन्ध लेखक की मानसिक चेष्टा तथा कलात्मक अभिरुचि से अनुरंजित रहता है।

(ग) सर्वाधिक विशिष्ट अर्थ : शुद्ध साहित्यिक निबन्ध-- इन निबन्धों का उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन नहीं अपितु आनद प्रदान करना होता है और इन पर लेखकीय व्यक्तित्व की अमिट छाप रहती है।

इस क्रम में निबन्ध की कुछ समकालीन पारिभाषाएँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा--

(1) विश्लेषणात्मक अथवा व्याख्यात्मक प्रकार की एक लघु साहित्यिक रचना जो विषय पर सामान्यतया व्यक्तिगत दृष्टिकोण से और परिमित रूप में विचार करती है।

--वेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी, 1970 संस्करण

(2) एक सक्षिप्त गद्य-रचना जिसके अतर्गत किसी वस्तु की विवेचना, किसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति की जाती है या पाठक से किसी विषय से सम्बद्ध किसी प्रतिपाद्य को स्वीकार कर लेने का आग्रह किया जाता है। यह रचना प्रबन्ध अथवा शोध-प्रबन्ध से भिन्न होती है, क्योंकि (1) यह उनकी भाँति किसी विषय के व्यवस्थित या अशेष रूप मे प्रतिपादन का दावा नहीं करती, और (2) यह किसी विशिष्ट पाठक-वर्ग के लिए नहीं अपितु जनसामान्य के लिए प्रस्तुत की जाती है। परिणामस्वरूप निबन्ध में विषय का विवेचन गैर-शास्त्रीय रीति से किया जाता है तथा प्रभाववर्द्धन के लिए उसमें चुटकुलों, विचित्र दृष्टान्तो और विनोद का प्रयोग प्राय: बहुत उदारतापूर्वक किया जाता है।

--एम॰ एच॰ ऐब्रम्स, 1971

निबन्ध की उपर्युक्त विविध परिभाषाएँ पाश्चात्य साहित्य में निबन्ध-यात्रा के विभिन्न चरणों को स्पष्ट करती हैं।

हिन्दी में निबन्ध शब्द अंग्रेजी 'एसे' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयोग मे लाया जाता है। हालाँकि इन दोनों शब्दों के व्युत्पत्तिगत अर्थों में बहुत अन्तर है। संस्कृत शब्द 'निबन्ध' का मूल अर्थ है--नि + बन्ध = बाँधना, तारतम्य और सगठन। भोजपत्ररूपी पांडुलिपि के पत्रों को सँवार कर बाँधने या सीने की क्रिया के लिए भी निबन्ध शब्द का प्रयोग किया जाता था। तदनुसार भावों और विचारों को समुचित रीति से बाँधकर सुगठित रूप में प्रस्तुत करना 'निबन्ध' कहलाता है। जबकि 'एसे' का व्युत्पत्तिगत अर्थ है--परीक्षण या प्रयत्न करना। दोनो शब्दों के व्युत्पत्तिगत अर्थों मे अन्तर स्पष्ट है।

कालान्तर में निबन्ध के मूल अर्थ में परिवर्तन हुआ और इस शब्द का प्रयोग स्वयं ग्रंथ के लिए होने लगा। निबन्ध ऐसे ग्रथ विशेष को कहने लगे जिसमें व्याख्या या भाष्य आदि का संग्रह हो। इस समय संस्कृत मे किंचित् अन्तर के साथ एक दूसरे शब्द 'प्रबन्ध' का भी प्रायः इसी अर्थ मे प्रयोग हो रहा था। अन्तर यह था कि 'किसी एक विषय पर अनेक व्याख्याओ के संग्रह को निबन्ध' तथा 'अनेक विषयों पर अनेक मतों के संग्रह को प्रबन्ध' कहा जाता था। लेकिन 'बन्ध' या 'संग्रह' का भाव निबन्ध की भाँति प्रबन्ध (प्र + बन्ध = बाँधना) में भी था।

वैसे, प्र + बन्ध + अच् के आधार पर प्रबन्ध का अर्थ ग्रंथ-रचना मान कर 'परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय या कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण' भी प्रबन्ध कहा गया था, पर क्रमशः संस्कृत मे यह शब्द कथा के सम्यक् निवाह पर आधारित 'प्रबन्ध काव्य' के लिए रूढ हो गया था।

परन्तु आज हिन्दी में प्रबन्ध और निबन्ध दोनो ही शब्द अपने मूल या रूढ अर्थों मे नहीं बल्कि उनसे बहुत भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। आज प्रबन्ध एक ऐसी गद्य-रचना को कहा जाता है जिसमें किसी विषय का विवेचन सांगोपाग विस्तार और गहराई के साथ लेखक की अपनी भाषा-शैली में क्रमबद्ध, प्रामाणिक और वस्तुपरक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जबकि निबंध शब्द अपने व्युत्पत्तिगत (शाब्दिक) अर्थ 'बंधे हुए', 'सुगठित' का सर्वथा त्याग करके उसके ठीक उलटे अर्थ 'बन्धनहीन', 'असम्बद्ध' को समाविष्ट करते हुए अंग्रेजी 'एसे' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। अर्थात् निबन्ध में व्यक्तित्व अधिक सुव्यक्त[1] होता है जबकि प्रबन्ध मे निबन्ध की अपेक्षा विस्तार, वस्तुपरकता, सांगोपागता, गहराई, विषय की प्रधानता आदि अधिक होती है। हालाँकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निबंध और प्रबन्ध दोनों को अभिन्न मान कर एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।[2]

वैसे, अंग्रेजी 'एसे' के अर्थ में प्रयुक्त होने के बावजूद सामान्य हिन्दी-व्यवहार में निबन्ध अंग्रेजी की अपेक्षा कुछ अधिक विषयपरक विचारपरक एव वस्तुपरक है। हिन्दी निबन्ध मे भाव और विचार की सुसम्बद्धता एव कसावट पर अधिक बल है तो अंग्रेजी 'एसे' मे व्यक्तिपरकता पर। परन्तु स्वतंत्र रूप मे हिन्दी निबंध विषय-तत्व और व्यक्ति-तत्व के न्यूनाधिक समरस-विधान का आग्रही है।

निबन्ध के पर्याय के रूप में 'लेख' शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु लेख मुख्यतया निर्वैयक्तिक और शास्त्रीयता प्रधान गद्य-रचना मानी जाती है जिसे अंग्रेजी में 'आर्टिकिल'[3] कहते हैं। निबन्ध यदि एक विशिष्ट मुक्त मनोदशा का उद्‌गार है, तथा व्यक्तिपरकता और आत्मीयता के कारण सरस एवं आनन्दप्रद होता है तो लेख मुख्यतया ज्ञानवर्द्धक होता है। हालाँकि व्यावहारिक रूप में आज निबन्ध और लेख शब्द प्रायः भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं।

---

1 Prominent
2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ 466
3 Article

हिन्दी में निबन्ध-लेखन का सूत्रपात आधुनिक काल के पहले दौर (भारतेन्दु युग 1868-1900) मे पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के माध्यम से हुआ।

यह राष्ट्रीय जागरण और व्यक्तिचेतना के वर्चस्व का समय था। हिन्दी प्रदेश मे आधुनिकता, स्वचेतनता, बौद्धिक सजगता और वैज्ञानिक-लौकिक दृष्टि का विकास हो रहा था। जीवन, कर्म और चिंतन में रूढ़ियों से मुक्ति के लिए छटपटाहट थी। एक ओर मध्ययुगीन ईश्वरोन्मुखी वृत्ति, सामंती मूल्यो और सस्कारों से रजित ब्रजभाषा से मुक्ति का प्रयत्न था तो दूसरी ओर नवचेतना के प्रसार और जनाकांक्षाओं की सुबोध अभिव्यक्ति के लिए नये गद्य-माध्यम विशेष प्रयत्नशील थे। सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी खडी-बोली गद्य को निबन्ध के नये, व्यक्तिपरक, समर्थ और सक्षिप्त माध्यम के रूप में विकसित और व्यवस्थित किया।[1]

राष्ट्रीय स्तर पर जन-जन से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने की ऐतिहासिक आवश्यकता, अग्रेजी साहित्य से सम्पर्क, मुद्रण कला के प्रसार और छापेखाने की सुविधा, पत्र-पत्रिकाओ का प्रकाशन, सजग एव प्रतिभाशाली सपादको-रचनाकारों का आविर्भाव आदि अनेक सुयोगो के एक साथ उपस्थित हो जाने से निबन्ध के विकास के लिए इस समय बहुत अनुकूल वातावरण भी बन गया था। वास्तव में, अंग्रेजी की भाँति हिन्दी मे भी निबध के विकास का श्रेय तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ को ही प्राप्त है। कविवचन सुधा और हरिश्चन्द्र मैग्जीन, आनन्द कादंबिनी, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, हिन्दोस्थान, भारतमित्र आदि अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी निबन्ध-लेखन का बहुत विकास किया।

सचेत सपादक पाठक वर्ग में सविनोद सामाजिक-राजनीतिक सजगता उत्पन्न करने के लिए एक ऐसा संक्षिप्त गद्य-माध्यम चाहते थे जिसमें वे अपेक्षाकृत स्वच्छंदता और बेतकल्लुफी के साथ अपनी बातें कह सकें, अपने विचार व्यक्त कर सकें। निबन्ध की आकर्षक विधा का विकास इसी आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ। संपादकों ने अपने-अपने पत्रों मे छोटी-छोटी गद्य-टिप्पणियाँ लिखनी शुरू कीं। ये टिप्पणियाँ कभी संपादकीय के रूप में रहती थीं तो कभी स्वतंत्र गद्य-रचनाओं के रूप में। यही टिप्पणियाँ निबन्ध कहलाने लगीं। इनमें लेखक उन्मुक्त ढग से आपसी बातचीत की शैली में अपने पाठकों से सहज आत्मीयता स्थापित करते हुए अपनी बाते कहने अथवा अपने निजी विचार व्यक्त करने का प्रयत्न किया करता था। इस समय निर्बंध जीवत आगमन-शैली में संवाद और उपदेश का हल्का-फुल्का, सरस एव आत्मनिष्ठ माध्यम था। गंभीर चिंतनपरकता इस समय इसमें नहीं मिलती।

हिन्दी में निबन्ध-लेखन अपने प्रारम्भिक और शुरूआती दौर में इसी रूप में चला। इस दौरान इसका मूल उद्देश्य समाज का सप्रीति उद्बोधन एव सस्कार था। परिस्थितियो मे परिवर्तन और वक्त के तकाजे के अनुसार यहाँ भी 'एसे' की भाँति निबन्ध ने शीघ्र ही विकास और विस्तार के नये आयाम प्राप्त कर लिए और हिन्दी में भी यह वैचारिक सप्रेषण का अत्यंत लोकप्रिय माध्यम बन गया।

---

1 डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार "भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों का रूप अंग्रेजी की देन नहीं है वह हिन्दी की अपनी सहज विकसित विधा है ... का मूल्यांकन पृ 05

इस क्रम मे हिन्दी के कुछ विद्वानों और निबधकारो द्वारा की गई निबंध की परिभाषाएँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा--

(क) "निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते है जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो ।"

-- *गुलाब राय*

(ख/1) "निबन्ध गद्य की कसौटी है । भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधो मे ही सबसे अधिक संभव होता है. आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो ।"

-- *आचार्य रामचंद्र शुक्ल*

(ख/2) "अर्थ-प्रधान गद्य-विधान जो सघन बौद्धिकता, गूढ़ विचारो की कसावट, लेखकीय व्यक्तित्व एव वैशिष्ट्य, भाषाई चमत्कार और असाधारण शैली मे पुष्ट होता है तथा अपनी वैचारिक गहनता से पाठको की बुद्धि को उत्तेजित करके उनमे नये-नये विचारो की मौलिक उद्‌भावना करता है ।"

--*आचार्य शुक्ल के निबंध विषयक विचारों का सार*

(ग) "भावों या विचारों की प्रधानता तथा शैली की रमणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य-रूप का प्रचलन हुआ उसे ही निबन्ध की संज्ञा दी गई । यह व्यक्ति की स्वाधीन चिता की उपज है ।"

-- *आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी*

(घ) "असम्पूर्णता का विचार न करने वाला गद्य-रचना का वह प्रकार जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता हो, विषय-निरूपण मे स्वतंत्रता हो, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्णरूप से प्रतिबिबित हो, जिसकी शैली मौलिक तथा साहित्य-कोटि की हो, निबन्ध कहलायेगा ।"

--*आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी*

निबंध विषयक उपर्युक्त विवरण और परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य मे तथा देशी-विदेशी सांप्रतिक निबंध-रचनाओ के प्रत्यक्ष अनुशीलन के आधार पर निबंध और उसके मूल ढाँचे के कुछ अनिवार्य विधायक तत्त्वों और लक्षणों का निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है--

(1) गद्य-माध्यम-- आज निबंध निरपवाद रूप से गद्य की विधा है । इसकी रचना का माध्यम गद्य है । अठारहवीं शताब्दी मे इग्लैड के प्रमुख निबंधकार, कवि, आलोचक और व्यग्यकार एलेक्जेडर पोप की अंग्रेजी रचनाए--(1) एसे ऑन क्रिटिसिज्म (1711), (2) मॉरल एसेज (1731-35) तथा (3) एसे ऑन मैन (1733-34) पद्यवद्ध निबन्ध कृतियाँ हैं । इधर हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हे कविते' शीर्षक पद्यात्मक रचना

की निबंधात्मक कृति ही है, तथापि ये सभी रचनाएँ अपवाद हैं । निबंध गद्य में ही लिखा जा रहा है ।

(2) औसत आकार-- यह निबन्ध के उद्‌भव काल से लेकर आज तक बराबर निबध का अनिवार्य विधायक तत्त्व तथा प्रबंध से उसका एक भेदक तत्त्व भी स्वीकार किया गया है और व्यवहार में पाया भी जा रहा है । 'औसत' आकार की सीमा मे दो-ढाई सौ शब्दो की सक्षिप्त टिप्पणियाँ जैसे बालकृष्ण भट्ट की 'जी' (1900) अथवा 'हम क्या हैं' (1906) शीर्षक रचनाओं से लेकर तीन-चार हजार शब्दों की श्यामसुन्दर दास कृत 'फोटोग्राफी' या रामचद्र शुक्ल कृत 'कविता क्या है' शीर्षक विशाल रचनाएँ भी आ जाती हैं ।

(3) सीमित विषय-- इसके दो अर्थ हैं--

(क) विवेच्य विषय अपने आप मे छोटा हो, उसकी परिधि सीमित हो । वह किसी एक दृष्टिकोण, पक्ष, प्रसंग, तत्त्व आदि तक ही सीमित हो ।

(ख) विषय का विवेचन सामान्य रूप में किया जाय, गभीर, सूक्ष्म और सागोपाग विस्तार में न किया जाय ।

मेरी दृष्टि मे पहला अर्थ अधिक ग्राह्य है । निबंध के औसत कलेवर के लिए विषय का अपने आप मे छोटा होना आवश्यक है । उदाहरण के तौर पर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'उत्सव की महत्ता', आचार्य शुक्ल का 'क्रोध', रामविलास शर्मा का 'गद्य काव्य', अज्ञेय का 'जनतंत्र में बुद्धिजीवी की भूमिका', नगेन्द्र का 'अनुशासन का प्रश्न' शीर्षक निबध इस वर्ग में रखे जा सकते हैं ।

विषय को सीमित करने के लिए उसकी परिधि को निर्धारित कर देना आवश्यक है । यह कार्य लेखक की निजी अभिरुचि से होता है । किसी विषय को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है । किस विशेष दृष्टि से देखा जाय, यह निबंधकार के व्यक्तित्व की संरचना, उसकी व्यक्तिगत रुचि आदि पर निर्भर करता है । यही संदर्भ निबंध मे रचनाकार के व्यक्तित्व का सद्‌भाव करता है, और यही निबध का व्यक्ति-तत्त्व है । निबंध में इसका हस्तक्षेप उपन्यास, कहानी अथवा आलोचना की अपेक्षा अधिक रहता है । निबंध की सीमा मे निबंध-लेखक विषय का विवेचन किसी एक ही विशेष दृष्टि--सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक आदि--से कर सकता है, और करता भी है । अनेक दृष्टियो से या पूरे सांगोपांग विस्तार में विषय का विवेचन निबंध की परिधि में नहीं हो सकता । पर उस एक विशिष्ट दृष्टिकोण के अतर्गत निबंधकार अपना अभिमत व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र है । छिट-पुट रूप में विषय का विवचन एकाधिक दृष्टियों से भी किया जा सकता है । प्रतिभाशाली रचनाकार का अभिमत प्रायः उसका अपना होता है, मौलिक होता है, उसका निबध विषय की एक मौलिक झलक लेकर आता है । उसके व्यक्तित्व का सुव्यक्त सद्‌भाव और उसकी शैली की विशिष्ट जीवंतता एवं दीप्ति उसके शुद्ध चिंतनपरक निबध को भी सजीव बना देता है । केवल एक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये जाने के कारण निबंध अपूर्ण या अधूरा प्रतीत नहीं होता, बल्कि वह अपने में एक समग्र और पूर्ण इकाई होता है

विषय को सीमित रखने के लिए उसकी सम्यक् संयोजना भी आवश्यक है। निबंध को विषय की प्रस्तुति या उसके विवेचन के क्रम में अप्रासंगिक तत्त्वों के अवांछित हस्तक्षेप से बचाया जाना भी अपेक्षित है।

दूसरा अर्थ मुझे अपेक्षाकृत कम ग्राह्य लगता है। शास्त्र से व्यवहार नहीं चलता, व्यवहार से शास्त्र बनता है। व्यवहार में, अर्थात् वास्तव में, इस समय लिखे जा रहे निबंध भिन्न प्रकार के भी मिलते हैं, इसलिए लक्षणों के निर्धारण में उनका भी आधार ग्रहण किया जाना चाहिए। निबंध में, किसी विशेष दृष्टिकोण से ही सही, विषय का विस्तृत और गहन विवेचन भी प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल का 'कविता क्या है ?' शीर्षक निबन्ध विषय का गहरा और विस्तृत विवेचन नहीं है--यह नहीं माना जा सकता। अंग्रेजी में रिचर्ड मैक्कियन का 'द फिलसाफिक बेसेज आफ आर्ट एण्ड क्रिटिसिज्म' शीर्षक निबन्ध[1] विस्तार में लगभग अस्सी पृष्ठों का है और अपने विषय का गंभीर, सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है, बल्कि इसमें तो निबंध की 3-4 हजार शब्द-सीमावाली शर्त भी टूट जाती है, क्योंकि यह करीब तीस हजार शब्दों का है। ये निबंध अपवादस्वरूप नहीं हैं। विषय-प्रधान तथा अपेक्षाकृत वस्तुपरक निबंधों में इस प्रकार की बृहदाकार रचनाएँ और भी बहुत-सी हैं।

शुद्ध साहित्यिक एवं व्यक्ति-प्रधान निबंधों में स्थिति भिन्न मानी जा सकती है। वहाँ विषय-गांभीर्य और विस्तार न तो संभव है, न काम्य, क्योंकि इस प्रकार के निबंधों में विषय बहाना मात्र होता है या नगण्य होता है। विषय के ब्याज से रचनाकार की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया अथवा उसकी मनःस्थिति का सरस निरूपण ही उसका इष्ट होता है। विषय की गहन विवेचना साहित्यिक निबंध के लालित्य के लिए घातक हो सकती है, वह उसकी सहजता, आत्मीयता और सजीवता को क्षरित कर सकती है। अतएव, सीमित विषय की शर्त यहाँ स्वीकार की जा सकती है।

साहित्यिक निबंध वास्तव में एक कलाकृति है। वह रचनाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है। रचनात्मक सौष्ठव, अभिव्यक्तिगत उन्मुक्तता और शैली की स्फूर्ति एवं दीप्ति से वह पाठक को सहज आह्लादित करता है। विषय के दार्शनिक या विद्वत्तापूर्ण सांगोपांग विवेचन द्वारा पाठक का ज्ञानार्जन उसका लक्ष्य नहीं होता; जैसे--बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध।

सामान्यतया प्रत्येक निबन्ध में तीन तत्त्व होते हैं--चिंतन, भाव अथवा रचनाकार का आत्मतत्त्व और कल्पना। विविध प्रकार के निबंधों में इन तत्त्वों का अनुपात भिन्न-भिन्न होता है। तदनुसार उनकी परिधि भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। चिंतन अथवा बुद्धि-प्रधान निबंध

---

1 आर० एस० क्रेन द्वारा संपादित 'क्रिटिक्स एण्ड क्रिटिसिज्म' 1970 में संग्रहीत। इस संग्रह को संपादक ने 'एसेज इन मेथड' कहा है, अर्थात् उल्लिखित निबंध संपादक के अनुसार 'एसे' ही है, और कुछ नहीं। प्रस्तुत संदर्भ में जॉन लॉक के 'एन एसे ऑन ह्यूमैन अण्डरस्टैंडिंग' और बर्नार्ड बोसांके के 'एन एसे ऑन द फिलॉसफी ऑफ स्टेट' शीर्षक रचनाओं का उल्लेख प्रासंगिक है। ये रचनाएँ 'एसे' हैं पर पुस्तकाकार हैं, स्पष्ट है कि ये बहुत विस्तृत हैं। यहाँ वास्तव में 'एसे' का व्युत्पत्तिगत अर्थ चरितार्थ होता है ये रचनाएँ विषय के परीक्षण या उसकी माप तौल का एक प्रयास हैं

अपेक्षाकृत लबे होते हैं । भाव अथवा आत्मप्रधान निबध अपने कलेवर मे सबसे छोटे होते हैं जबकि कल्पना तत्त्व की प्रधानता वाले निबन्ध मध्यम आकार के होते हैं । शास्त्रीय अर्थ में तो शुद्ध साहित्यिक निबन्ध ही वास्तविक निबन्ध माने जायेंगे ।

(4) व्यक्ति-तत्त्व का सद्‌भाव-- साहित्य का एक रूप विशेष होने के कारण साहित्य होने की, सर्जनात्मक होने की, एक अनिवार्य शर्त और उसके एक मूल घटक के रूप मे रचनाकार के व्यक्तित्व का सद्‌भाव निबन्ध में भी आवश्यक है । निबन्ध चाहे व्यक्तिपरक हो या वस्तुपरक, वैयक्तिक हो या निर्वैयक्तिक, व्यक्ति-प्रधान हो या विषय-प्रधान, रचनाकार अपने समग्र व्यक्तित्व, बुद्धितत्त्व और हृदयतत्त्व सहित अर्थात् अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता सहित उसमें अवश्य विद्यमान रहता है ।[1] सभी प्रकार के निबंधों मे किसी न किसी अश मे, किसी न किसी रूप में, निबधकार के व्यक्तिगत अनुभव की प्रेरणा, उसकी प्रतिक्रिया अथवा रुचि का सन्निवेश अनिवार्य है ।

विषय-प्रधान निबंध मे प्रतिपाद्य विषय की प्रधानता रहती है, व्यक्तिपक्ष गौण रहता है । इसके विपरीत, व्यक्ति-प्रधान निबध में निबधकार का व्यक्तित्व प्रधान रहता है और विषय गौण हो जाता है । लेकिन विषय-प्रधान अथवा वस्तुपरक निबंध भी रचनाकार के व्यक्तित्व से सर्वथा शून्य नहीं हो जाता । अगर ऐसा हो तो वह निबंध ही नहीं रह जायगा । वह भी निबधकार की अभिरुचि, चिंतनगत विशिष्टता, दृष्टिकोण की आत्मनिष्ठता आदि से प्रभावित रहता है ।

(5) भाषा-शैली---निबंध में लेखक के व्यक्तित्व का सद्‌भाव निबध की भाषा-शैली में भी प्रतिबिंबित होता है । रचनाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व की विशिष्टता एवं अद्वितीयता निबंध के पूरे अस्तित्व को अद्वितीय बना देती है । उसके लिए किन्हीं वस्तुपरक सर्वमान्य नियमों का निर्देश नहीं किया जा सकता । इसीलिए कहा गया है कि निबध निबंधकार की कृति है । निबंधकार के अभिव्यंजना कौशल का वैशिष्ट्य और संप्रेषण की निजी कलात्मकता उसकी शैली को भी विशिष्ट बना देती है । इस प्रकार, निबंध पर एक ओर लेखक के व्यक्तित्व की छाप होती है तो दूसरी ओर शैली की छाप । यह निबध का विशिष्ट लक्षण और गुण है, तथा निबंध-कला के उत्कर्ष के लिए सर्वथा अनिवार्य है ।

वास्तव में, निबंध में अभिव्यंजना-शिल्प, भाषा और शैली का वैशिष्ट्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि निबंध को रोचक, प्रभावोत्पादक और जीवंत यही बनाता है । अभिव्यंजना कौशल का निखार पूरे निबंध को सजीव और चमत्कारपूर्ण बना देता है । यह भी एक अत्यंत आवश्यक लक्षण है । पहले भी उल्लेख किया गया है कि कोई भी निबंध, किसी भी स्थिति में उबाऊ और निर्जीव नहीं होना चाहिए, उसे हर हालत मे सजीव और सरस होना ही चाहिए ।

प्रकार, उद्‌देश्य और अर्थगत विशेषता के आधार पर भी निबंध मे भाषा एव अभिव्यंजना शैलीगत भेद होता है, अनेकरूपता होती है । तदनुसार उसमें परिवर्तन करना भी अपेक्षित होता है । यदि निबंध व्यक्ति-प्रधान है और उद्देश्य पाठक से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करते हुए

---

1 आचार्य शुक्ल के अनुसार निबधकार की यही विशेषता उसको तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से पृथक कर देती है । विस्तार के लिए देखिए इसी पुस्तक की पृ सं 26 पैरा 6 तथा पृ 27

उसका प्रबोधन करना है तो शैली घरेलू बातचीत के लहजे में सरल और आडंबरहीन रखनी होगी। शुद्ध मनोरंजन की स्थिति मे शैली सहज और स्वच्छंद होगी। विचार-प्रधान निबंधो मे एक विशिष्ट अनुशासन अपेक्षित होता है, जिसके तहत विचारो को सटीक, सुसम्बद्ध और तर्कपूर्ण रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ तत्मम शब्दावली का भी आवश्यकतानुसार उदारतापूर्ण प्रयोग किया जा सकता है। भाषा कसावट लिए हुए होती है। विषय की गभीरता और संश्लिष्टता के कारण उसके विवेचन की शैली भी कभी-कभी कठिन और दुरूह हो जाती है। पर सामान्यतया शैली ऋजु और प्रसाद गुणयुक्त ही होनी चाहिए।

सामान्यतया शैली की शक्ति, समृद्धि और उत्कृष्टता सभी कुछ निबंधकार की प्रतिभा पर निर्भर करता है। फिर भी, इनके लिए कतिपय युक्तियों, उपकरणों और तत्त्वों का निर्देश किया गया है।

पहली बात तो यही है कि निबन्ध की भाषा दुर्बोध एवं असंस्कृत तथा शैली अनगढ, कुगढ़, जटिल, निष्प्रयोजन स्फीत अथवा विद्रूप न हो। भाषा का सुबोध, परिमार्जित एवं प्रभावशाली होना सर्वथा आवश्यक है। विषय-प्रधान एवं विचार-प्रधान निबंधों में तो शब्दों के सटीक प्रयोग के सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ जस्ट वर्ड्स) का भी परिपालन आवश्यक है। अभिव्यंजना-शक्ति के लिए भाषा मे लाक्षणिकता का समावेश अपेक्षित है। अलंकार, मुहावरे और लोकतत्त्व का समुचित उपयोग भी भाषा की शक्ति को संवर्द्धित करके शैली में निखार लाता है। हास्य-व्यग्य-विनोद का यथावसर कुशल प्रयोग कथ्य को प्रभावशाली बनाता है, निबंध को नीरस होने से बचाकर शैली को रोचक और आकर्षक बनाता है। 'क्रम, संगति, संगठन और अन्विति शैली के आंतरिक गुण' माने गए हैं। प्रतिभाशाली निबंधकार निबंध में प्राप्त विभिन्न स्थितियो, अवसरों, मनोभावों आदि के अनुरूप भाषा-शैली में समुचित परिवर्तन, उतार-चढाव, लाघव आदि करता चलता है जिससे वह चमत्कारपूर्ण और प्रभावशाली बन जाता है।

श्रेष्ठ शैली में निबंधकार के पूरे व्यक्तित्व की छाप अकित मिलती है। श्रेष्ठ शैली निबंधकार की मानसिक बनावट, चिंतनगत विशिष्टता तथा चरित्रगत विशेषताओं को बहुत स्पष्ट रूप मे प्रतिबिम्बत कर देती है। उदाहरण के लिए, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, अध्यापक पूर्णसिह और आचार्य रामचद्र शुक्ल की अपनी-अपनी विशिष्ट निबंध शैलियों का उल्लेख किया जा सकता है। इस रूप मे निबधकार को विशिष्ट शैलीकार भी माना जा सकता है।

(6) प्रयोजन--निबंध एक विशिष्ट साहित्य रूप है। इसलिए साहित्य के प्रयोजन सामान्यतया निबंध-रचना के भी प्रयोजन माने जा सकते हैं। इनमें आत्माभिव्यक्ति, कला-सृष्टि एवं सौंदर्य भावना का परितोष, आनंद, ज्ञानार्जन, प्रबोधन एवं शिक्षा, लोकमंगल आदि प्रयोजनो का उल्लेख किया जा सकता है। हडसन का मत है कि निबंध का उद्भव वास्तव मे इसलिए हुआ क्योंकि लोग अभिव्यक्ति के एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे जिसमे वे कुछ स्वतंत्रतापूर्वक बातचीत करने जैसा आनंद पा सकें।[1]

---

1 ' . in fact, the essay arose because men had come to feel the need of a vehicle of expression in which they could enjoy something of the freedom of con-
पूर्वोद्धृत पुस्तक पृ॰ 334

आचार्य शुक्ल का मत है कि निबंध गद्य की कसौटी है, भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंध में ही सबसे अधिक संभव होता है । इसलिए भाषा की शक्ति को विकसित करना भी निबध-रचना का एक प्रयोजन माना जा सकता है । आचार्य शुक्ल ने अपने मनोविकार विषयक निबधों की रचना का उद्देश्य 'मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियो की छानबीन' माना है ।

आशय यह कि निबंध-रचना के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं ।

उपर्युक्त विवरण के अंतर्गत निबंध का एक आधारभूत एवं मूल प्रारूप खड़ा करने के लिए कतिपय अनिवार्य घटक तत्त्वों एवं लक्षणों का निर्देश किया गया है । ये सभी किसी एक निबंध में या एक प्रकार के निबध मे, या किसी एक विशिष्ट भाषा के किसी एक निबंधकार की रचनाओ में नहीं मिल जायंगे । निबध-यात्रा के विभिन्न सोपानो और अनेक निबंध लेखको की तरह-तरह की निबंध-रचनाओं एवं परिभाषाओ के आधार पर यहाँ इनका उल्लेख किया गया है । ये लक्षण निबध-जाति मात्र के लक्षणों के रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं ।

निबंधों का वर्गीकरण

निबंधों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया गया है और उनके कई भेद बताये गये है । सच यह है कि जितने लेखक उतने ही निबध के प्रकार । फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से वर्गीकरण के कुछ प्रमुख आधारो पर निबंधों के कुछ प्रमुख भेद किये गये हैं ।

वर्गीकरण का एक प्रमुख आंतरिक आधार निबध के लक्षणों अथवा उपकरणों का है । निबंध में दो उपकरण अनिवार्य हैं--(क) विषय-वस्तु, और (ख) निबंधकार का व्यक्तित्व । इनके आधार पर निबंध के दो भेद हो सकते हैं--(1) विषय-प्रधान और (2) व्यक्ति-प्रधान ।

विषय-प्रधान निबधों का लेखक के निजी दृष्टिकोण के आधार पर पुनर्वर्गीकरण भी किया जा सकता है । उदाहरण के लिए, बालकृष्ण भट्ट के निबन्ध सास्कृतिक हैं, बालमुकुन्द गुप्त के राजनीतिक और आचार्य शुक्ल के मनोवैज्ञानिक ।

पद्धति के आधार पर भी निबधों का वर्गीकरण संभव है--(1) वर्णनात्मक, (2) विवरणात्मक, (3) विचारात्मक, और (4) भावात्मक ।

वर्णनात्मक निबंधों का सम्बन्ध प्रायः आत्मेतर वस्तु-जगत से और उसके स्थिर एवं घटनात्मक रूप से होता है । इनके अंतर्गत पर्वत-जंगल, पशु-पक्षी, नगर-तीर्थ, मंदिर-गिरजा, सभा-सम्मेलन, पर्व-त्योहार आदि के वर्णन प्रस्तुत किये जाते हैं । शैली प्रायः व्यासगुण-सम्पन्न होती है । आचार्य शुक्ल के अनुसार इन निबधों का लक्ष्य पाठक की कल्पना को जगाकर उसके सामने कुछ वस्तुएँ या व्यापार मूर्त रूप में लाना होता है ।[1]

विवरणात्मक निबंधों मे वस्तुगत जगत की गतिशीलता एवं क्रियाशीलता, अर्थात् कालगति और क्रियागति पर विशेष आग्रह रहता है । यहाँ वस्तु स्थिर की अपेक्षा गतिशील रूप मे प्रस्तुत की जाती है । शैली यहाँ भी व्यासगुण-सम्पन्न रहती है ।

भावात्मक निबंधों में अपने नाम के अनुरूप बुद्धि की अपेक्षा हृदय-तत्त्व अर्थात् राग या भाव तत्त्व की प्रधानता रहती है । 'इनमे लेखक अपने प्रेम, हर्ष, करुणा . . . या किसी और भाव की व्यंजना करता है । भाव के आवेश के अनुसार कहीं-कहीं भाषा में असम्बद्धता, विशृंखलता और वेग या तीव्रता दिखाई पडती है . . . ।[2]

---

1 चिन्तामणि 3 233

2 वही 235

ये प्राय: गद्यगीतवत् प्रतीत होते हैं जैसे किसी कवि द्वारा रचित हो । परन्तु कोई भी एक विशेष निबंध सपूर्णतया इस प्रवृत्ति से युक्त नहीं मिलेगा । किसी-किसी निबध में साहित्यिक उक्तियो की विशेष प्रधानता हो जाती है ।

शैली मूलत: इनमे भी व्यास ही रहती है पर भावावेशगत विशिष्ट भंगिमा के कारण विभिन्न निबधकारों की शैली में भी वैशिष्ट्य और वैविध्य आ जाता है, जिसका विशेष आकर्षण एव महत्व होता है । ये बुद्धि की अपेक्षा हृदय को प्रभावित करते हैं । प्राय: चार प्रकार की शैलियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं--धारा शैली, तरग शैली, विक्षेप शैली और प्रलाप शैली । इन शैलियों की चर्चा आचार्य शुक्ल ने भी की है । विक्षेप शैली मे भावतत्त्व तारतम्यरहित और अनियत्रित-जैसा होता है तथा बुद्धि-तत्त्व न्यूनतम हो जाता है । आचार्य शुक्ल के अनुसार इस शैली में भावावेश का द्योतन करने के लिए भाषा बीच-बीच मे उखड़ी हुई-सी और असम्बद्ध होती है । धारा शैली में भावों की एक समान धाराप्रवाह गतिमयता मिलती है जैसे सरदार पूर्ण सिह के 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबध मे ।

व्यक्ति-प्रधान निबधो में शुद्ध वैयक्तिक (पर्सनल) निबंधों के अतिरिक्त ललित निबधो की संस्मरणात्मक, यात्रा वृत्तान्तपरक, कथ्यात्मक, चित्रात्मक, आत्मकथ्यात्मक, पत्रात्मक, वैचारिक आदि अनेक शैलियों का समावेश है ।

विषय-प्रधान निबन्ध--विषय-प्रधान निबधों में निबंधकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा प्रतिपाद्य आत्मेतर विषय और वैदुष्य की प्रधानता रहती है । इनका आधार प्रतिपाद्य वस्तु होती है । औपचारिक रूप-विधान का भी इनमें विशेष स्थान होता है । रूप संघटना के लिए युक्ति, तर्क आदि आवश्यक लक्षणों के आधार पर इस प्रकार के निबधों को बुद्धिप्रधान, विचारात्मक अथवा निर्वैयक्तिक भी कहा जाता है । विचार एवं बुद्धि-प्रधान होने के बावजूद इन निबंधों में बुद्धि के अतिरिक्त कल्पना और राग तत्त्वों का भी सन्निवेश रहता है तथा निर्वैयक्तिक कहे जाने के बावजूद इनमे व्यक्तित्व सर्वथा उपेक्षित नहीं रहता । लेखक इसमे अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता--बुद्धि और सवेदनशील हृदय--के साथ विषय के प्रतिपादन मे प्रवृत्त होता है । जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, निबन्ध कैसा भी क्यों न हो, यदि वह साहित्य विधा 'निबन्ध' है तो वह व्यक्ति-तत्त्व से सर्वथा शुन्य हो ही नहीं सकता, उसमे किसी न किसी अंश में तथा किसी न किसी रूप में लेखकीय व्यक्तित्व का सद्भाव अवश्य मानना पड़ेगा । यहाँ तक कि दर्शन आदि जैसे शुष्क विषयों पर लिखे गए निबंधों मे भी लेखकीय व्यक्तित्व का अनिवार्य सन्निवेश रहता है । वास्तव में, विषय-प्रधान निबधों में विषय के प्रति लेखक का निजी दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होता है । किसी विषय को अनेक दृष्टिकोणो से देखा-परखा जा सकता है--राजनीतिक, सांस्कृतिक, मनौवैज्ञानिक आदि । लेखक विषय विशेष को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत करता है, उसके प्रति उसकी अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया या विचारणा ही निबन्ध में व्यक्त होती है । यह दृष्टिकोण या प्रतिक्रिया लेखक की अपनी मानसिक संरचना, अभिरुचि, प्रवृत्ति आदि पर निर्भर करती है । यही संदर्भ निबध मे उसकी व्यक्तिगत विशेषता या निजी व्यक्तित्व का सद्भाव करता है । इन निबधों में प्रस्तुत की गई बौद्धिक प्रतिक्रिया, तर्क-शृंखला, विचारधारात्मक रूप आदि सभी उसके विशिष्ट व्यक्तित्व,

वेशिष्ट विचारधारा और धारणाओं से निर्दिष्ट होते हैं । उदाहरण के लिए, मार्क्सवादी वस्तु को अपने विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है, पूँजीवादी ष्टि से तो मूल्यवादी अपनी दृष्टि से । ये निबंध यथार्थपरक भी हो सकते हैं और क भी । पर दोनो ही स्थितियो में ये निबंधकार की प्रतिभा और मेधा की चमक रहते हैं । विशिष्ट वस्तु और उसके विशिष्ट अर्थापन अथवा उसकी विशिष्ट दृष्टिकोणे ने के कारण उसकी भाषा-शैली भी विशिष्ट होती है और भाषा-शैली मे भी लेखकीय का अनिवार्य सद्भाव हो जाता है ।

षय-प्रधान और विचारात्मक निबंधो के बारे में आचार्य शुक्ल के विचार मौलिक, और बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । वे विचारात्मक निबंधों में विचारो की ऐसी 'गूढ़-गुंफित' की योजना अनिवार्य मानते हैं जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी द्धति पर दौड़ पड़े । इसका तात्पर्य यह है कि विचारात्मक निबंधों की 'एपील' बौद्धिक भावात्मक नहीं, ये निबन्ध पाठक की बुद्धि को प्रभावित करते हैं, उसके चित्त को । नहीं कर देते । सबसे महत्त्वपूर्ण बात इनके बारे में यह है कि ये निबन्ध पाठक को उद्बुद्ध करके उसमे मौलिक विचारो का उन्मेष करते हैं । इसी कारण से शुक्ल इन निबन्धों को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ।

चारात्मक निबंधो के बारे मे आचार्य शुक्ल के अभिमत की विस्तृत चर्चा आगे यथास्थान गी ।[1]

षय-प्रधान निबन्ध मुख्यतया एक औपचारिक इकाई है । वैसे तो निबंध का प्रारभ ापन करने, विचारो को प्रस्तुत और विकसित करने, तर्क-शृंखला को गुंफित करने नेबध के प्रक्रियागत किसी भी आयाम के बारे में कोई सुनिश्चित नियम नहीं होता ही बनाया जा सकता है, फिर भी इस वर्ग का निबन्ध बहुधा एक अपेक्षाकृत ाहरी और पूर्वकल्पित व्यवस्था के अंतर्गत अग्रसर होता है । निबंध-लेखक सुविधा ः से पहले इसका एक प्रारंभिक प्रारूप तैयार कर लेता है, जिसे रूप-रेखा कहा । इसकी उपादान सामग्री मुख्यत: निबंधकार के व्यक्तिगत दृष्टिकोण के तहत निजी के रूप में प्रस्तुत होती है । विचारों को तर्क, प्रमाण, दृष्टांत आदि से पुष्ट और करना होता है । इस प्रक्रिया में लेखक अपनी समस्त ज्ञान-सम्पदा, भाव-सम्पदा, और अपने व्यापक जीवनानुभव का समुचित उपयोग करते हुए विषय की प्रकृति ावनाओं के अनुरूप समस्त सामग्री को एक विशिष्ट, सूत्रबद्ध, व्यवस्थित रूप-विधान करता है ।

रूप-विधान का यह वैशिष्ट्य निबन्ध की भाषाशैली को भी विशिष्ट, मौलिक, वैयक्तिक हत्त्वपूर्ण बना देता है । विशिष्ट वस्तु के अनुरूप भाषा भी विशिष्ट होती है और ी । विषय-प्रधान, विचारात्मक निबन्धों की भाषा प्राय: तत्सम शब्दावली बहुल और

---

1. इसी पुस्तक के पृ० 26 और 27 देखें ।

प्रौढ होती है । शैली मुख्यतया सामासिक[1] रहती है, गौणतः व्यास[2] भी । आगमन और निगमन दोनों पद्धतियाँ[3] प्रयोग में लाई जाती है । विशिष्ट रूप और विशिष्ट शिल्प का यह अभेद निबंध की पूरी संरचना को विशिष्ट बना देता है । निबंध एक सर्वथा मौलिक, जीवंत और प्रभावशाली इकाई के रूप में सामने आता है । आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबंध इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

विषय की गंभीरता, विचारों की सुसम्बद्ध कसावट, विवेचन की तर्कपुष्टता, भाषा की प्रौढता एवं प्राजलता, वाक्यों के सुगठित विन्यास, अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र एवं तर्क-शृंखला का वैज्ञानिक निर्वाह, शैली की सजीवता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता, नवीन विचारों के उद्भावन की क्षमता आदि गुणो से सम्पन्न होने के कारण आज विषय-प्रधान निबंधो को 'विचार प्रसार का सर्वाधिक वैज्ञानिक रूप' और संवाद का अत्यत लोकप्रिय माध्यम माना जाता है । आचार्य शुक्ल ने निबध को उसके इसी रूप में गद्य की कसौटी कहा है ।

वैचारिकता-बौद्धिकता की शुष्कता-नीरसता के परिहार के लिए इन निबंधों मे विनोद का पुट भी आवश्यक होता है ।

व्यक्ति प्रधान निबंध-- विषय-प्रधान निबंधो के विपरीत व्यक्ति-प्रधान निबंधों में रचनाकार के व्यक्तित्व की प्रधानता होती है तथा विषय महत्त्वहीन होता है । स्वच्छन्दतावादी-रोमानी चेतना के प्रभुत्व के दौर में इन निबंधो का देश-विदेश में विशेष विकास हुआ । ये निबध बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता-प्रधान होते हैं । लक्षणो की दृष्टि से इनको हृदय-प्रधान, भावात्मक अथवा व्यक्तिपरक निबंध भी कहा जाता है । ये निबध वास्तव में निबंधकार के हृदय की भाषा होते हैं । इनमें रचनाकार के आत्म-प्रकाशन की वृत्ति प्रधान होती है ।

---

1 **समास शैली**-- दो शब्दों को जोडना समास कहलाता है । यह शैली भाव सक्षेपीकरण के लाधव से युक्त सूत्रात्मक शैली होती है । तत्त्वदर्शी निबंधकार विशद भाव खण्ड को तत्त्व रूप में, अर्थात् बहुत ही सीमित कलेवर में व्यक्त करके 'गागर में सागर' की उक्ति चरितार्थ करता है । भावो-विचारों को अच्छी तरह आत्मसात करके सटीक एव संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने वाली इस शैली मे सारग्राहिणी अभिव्यक्ति का विशिष्ट सौन्दर्य लक्षित होता है । विचारात्मक निबधो के लिए यह शैली आवश्यक है ।

2 **व्यास शैली**-- जुड़े हुए शब्दो को अलग करना 'व्यास' कहलाता है । गूढ़-गभीर सूत्रात्मक भावो-विचारो को पृथक्-पृथक् करके, उनको फैलाकर, सीधी-सरल भाषा में समझाने की दृष्टि से उनकी व्याख्या-सी कर देने वाली शैली ।

3 **आगमन** (Deductive) **पद्धति या शैली**-- जहाँ स्थापना को पहले प्रस्तुत कर दिया जाय और बाद में क्रमशः उसको तर्कों से सिद्ध किया जाय, अथवा जहाँ सिद्धात-निरूपण पहले कर दिया जाय बाद में उदाहरणो-दृष्टातों से उसको सिद्ध किया जाय वहाँ आगमन शैली होती है । इसकी गति विशेष से सामान्य की ओर होती है ।

निगमन (Inductive) **पद्धति या शैली**-- यह आगमन पद्धति के विपरीत चलती है । इसकी गति सामान्य से विशेष की ओर होती है । जहाँ व्यावहारिक तथ्यो को पहले प्रस्तुत करके बाद मे उनको सिद्धान्तबद्ध किया जाय अथवा जहाँ लेखक अपने अध्ययन-अनुशीलन और अनुभव के आधार पर उपलब्ध सत्य को पहले प्रस्तुत करके उसका विवेचन करते हुए सिद्धान्त निर्धारण करता है या उसको सूत्ररूप निष्कर्ष मे उपस्थित करता है वहाँ निगमन शैली होती है । दोनों शैलियो की भाषिक सरचना भिन्न-भिन्न होती है ।

विषय प्रधान निबंधों की औपचारिक प्रकृति के विपरीत ये निबंध स्वच्छंद और अनौपचारिक होते हैं । परन्तु इनकी स्वच्छंदता उच्छृंखलता नहीं होती, वह औचित्य एवं संतुलन की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती । स्वच्छंद होते हुए भी ये निबंध व्यक्तित्व, वस्तु और शैली के अंतर्निहित संतुलित विधान पर आश्रित रहते हैं । इनमें एक आंतरिक व्यवस्था एवं अनुशासनबद्धता रहती है । उनकी स्वच्छंदता का हेतु व्यक्ति-तत्व का वर्चस्व एवं वैशिष्ट्य होता है । वस्तुतः ये निबंध रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति के साधन होते हैं । इनमें विषय को महत्त्व नहीं दिया जाता, विषय कोई भी और कैसा भी छोटा या बडा, तुच्छ या गंभीर अथवा निपट आत्मनिष्ठ हो सकता है क्योंकि वह रचनाकार के आत्म-प्रकाशन के निमित्त बहाना मात्र होता है । इनमे लेखक विषय को नहीं, अपनी विद्वत्ता को भी नहीं, बल्कि स्वयं अपने को, अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है । इसमें निबंधकार की अपनी मानसिक रुचि, बनावट, प्रवृत्ति और प्रतिक्रिया को महत्व दिया जाता है । वह अपनी किसी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार विवेच्य विषय की विशिष्ट दृष्टि से चर्चा कर सकता है, अथवा अपेक्षाकृत महत्त्वहीन विषय को उच्चतर एवं गंभीरतर संदर्भों-मूल्यों से जोडकर देख सकता है । यहाँ लेखक द्वारा प्रतिपादित विषय पाठक का ध्यान उतना आकृष्ट नहीं करता जितना उसका व्यक्तित्व, उसके कथन की विशिष्ट भंगिमा, उसकी अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली की विशिष्ट रोचकता एवं सजीवता । इसलिए इन निबन्धो मे लेखक के व्यक्तित्व के अतिरिक्त उसकी विशिष्ट शैली की भी छाप होती है और शैली का विशेष महत्त्व होता है । वास्तव मे, शैली का वैशिष्ट्य और महत्त्व ही निबन्ध को 'कला' के रूप मे प्रतिष्ठित करता है ।

व्यक्ति-प्रधान निबंध रचनाकार द्वारा रचित एक कलाकृति के रूप में हमारे समक्ष आता है । इसमें रचनाकार का बहुस्तरीय जीवन का व्यापक अनुभव और जीवन का गंभीर तात्विक विवेचन व्यक्त होता है । इसलिए इस प्रकार के निबंधों के लेखक प्रायः प्रौढावस्था मे ही सफल निबंधकार हो पाते हैं ।

इस निबंध की सफलता के लिए कुछ विशेषताएं लेखक में होनी आवश्यक हैं तो कुछ निबन्ध की भाषा-शैली मे । अवस्था-प्राप्त निबन्ध-लेखक का बहुअधीत, बहुज्ञ, बहुश्रुत और जीवन के गहन-व्यापक अनुभव से सम्पन्न होना आवश्यक है । उसमे संवेदनशीलता, कवित्व-शक्ति, प्रखर कल्पनाशीलता, जिंदादिली और व्यक्तित्व की सजीवता भी आवश्यक है । लेखकीय अपेक्षाओं में, विशेषकर ललित निबंधों मे, शिष्ट संस्कृति और लोक संस्कृति के विविध रूपों का गहन-ज्ञान, स्थानीयता से घनिष्ठ परिचय तथा व्यंग्य-विनोद-क्षमता विशेष उल्लेखनीय हैं ।

व्यक्ति-प्रधान निबंध की भाषा सामान्यतया सहज-सरल, ऋजु, प्रसाद गुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण होती है । परन्तु ललित निबंधों के स्वानुभूति-प्रधान विशिष्ट वातावरण मे भाषा प्रसंगानुसार तत्सम-तद्भव बहुल, पदलालित्यगत माधुर्य से समन्वित, व्यंग्य से सज्जित, परिष्कृत-कोमलकांत पदावलीगत स्निग्धता-मसृणता से युक्त तथा लोकोक्तियों एवं जनपदीय शब्दावली के सौंदर्य से मंडित हुआ करती है । शैली में कवित्व की सरलता, अनुभूतियों की झंकार, कल्पना की उडान और भावनाओं की क्रीडामय मधुरिमा

अपेक्षित है औपचारिक रूप मे शैली के प्रथम पुरुषात्मक आत्मकथ्यात्मक या संभाषणात्मक आदि अनेक रूप हो सकते हैं। वैसे, ललित निबंधों की संस्मरणात्मक, यात्रा वृत्तांतपरक, रेखाचित्रात्मक, कथात्मक, पत्रात्मक, चरितलेखात्मक आदि अनेक शैलियाँ हो सकती है।

व्यक्ति-प्रधान निबंधों का एक विशेष रूप वैयक्तिक निबध (पर्सनल एसे) का होता है। ये निबंध 'वैयक्तिक भावनाओं, विचारों, अनुभूतियो और मान्यताओं के आरोप से' लिखे जाते हैं, तथा इनमें 'व्यक्तिगत सुख-दुःख, रुचि-अरुचि, त्याग-ग्रहण की ही चर्चा रहती है।'[1] अंग्रेजी में चार्ल्स लैंब ने इस प्रकार के कुछ निबध लिखे हैं।

इन निबंधों में लेखक-पाठक का आत्मीय सम्बन्ध खूब जुड़ता है। लेखक पाठक मे बिल्कुल सहज, स्वाभाविक और निश्छल रूप में अपने मन की बातें कहता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि विषय-प्रधान निबंधों में प्रतिपाद्य विषय और रूप की प्रधानता होती है तथा व्यक्तित्व अपेक्षाकृत गौण रहता है। जिस अनुपात में व्यक्तित्व गौण रहता है उसी अनुपात में इन निबधो को निर्वैयक्तिक कहा जा सकता है। पर व्यक्तित्व का सर्वथा निषेध यहाँ किसी भी स्थिति में नहीं होता। उसका अवांछित हस्तक्षेप भी नहीं कराया जाता। गौण रहते हुए भी यहाँ रचनाकार के व्यक्तित्व का समुचित एवं सुनिश्चित समावेश और योगदान रहता है। इन निबंधों में व्यक्तित्व का सद्भाव मुख्यतया निबंधकार की अभिव्यक्ति की विशिष्ट वैयक्तिक शैली में होता है। पर विषय के स्तर पर भी उसके व्यक्तित्व का योगदान रहता है, इस रूप में कि किसी विषय को देखने-परखने की अनेक दृष्टियो मे से निबंधकार अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्ति और रुचि के अनुसार विषय को किसी एक विशेष दृष्टि से देखता और प्रस्तुत करता है।

इसके विपरीत, जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है, व्यक्ति-प्रधान निबंध मे रचनाकार के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, और विषय महत्त्वहीन होता है। ध्यान देना है कि व्यक्ति-प्रधान निबंधों में विषय जिस सीमा तक महत्त्वहीन हो जाता है उस सीमा तक विषय-प्रधान निबधों में व्यक्तित्व महत्त्वहीन कभी नहीं हो जाता। व्यक्ति-प्रधान निबंधों में विषय कभी-कभी निपट नगण्य हो जाता है अथवा वह सर्वथा आत्मनिष्ठ होता है, और निबंधकार जिस रूप मे चाहता है, विषय के साथ खिलवाड़, चुहलबाजी और विनोदपूर्ण क्रीड़ा करता रहता है, उसके माध्यम से अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, अपने मंतव्य-प्रयोजन को मुखरित करता रहता है। ऐसी स्थिति में विषय और अभिव्यक्ति की विशिष्ट भंगिमा--दोनो स्तरों पर निबधकार का व्यक्तित्व ही साग्रह सक्रिय एवं सुव्यक्त होता है, दोनों स्तरों पर उसी का वर्चस्व रहता है, विषय को महत्त्व बिल्कुल नहीं मिलने पाता।

❑❑❑

---

1 डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक

आचार्य शुक्ल के निबंध विषयक विचार

आचार्य शुक्ल ने निबन्ध के बारे में भिन्न-भिन्न सदर्भो में समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । इन विचारों को कालक्रमानुसार चिंतामणि भाग 2 और 3 तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'[1] में देखा जा सकता है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार निबंध एक 'गद्य-विधान' है जिसके वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक तथा भावात्मक आदि प्रकार हो सकते हैं । परन्तु प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का सुन्दर मेल करके निबन्ध के नये प्रकार भी रचते रहते हैं । लक्ष्य-भेद से निबधो की समास, व्यास आदि अनेक शैलियाँ होती हैं ।

निबन्ध मुख्यतया 'विचार प्रसूत अर्थ-प्रधान' होता है, जिसमें लेखक के व्यक्तित्व का, उसकी व्यक्तिगत विशेषता का, अनिवार्य किन्तु यथोचित, प्रकृत और मर्यादित सन्निवेश होता है । व्यक्तित्व का सन्निवेश विषय-प्रधान निबंधों मे भी रहता है । वहाँ यह निबन्ध-लेखक द्वारा विषय को अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुसार एक विशेष दृष्टि से देखने और प्रस्तुत करने के रूप मे उपस्थित रहता है । निबंध-लेखक अपने मन की प्रकृति के अनुसार एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देख सकते हैं । इससे निबन्ध में अर्थगत और व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है । इसी आधार पर विषय-प्रधान एव विचारात्मक निबधो मे भी लेखकीय व्यक्तित्व की निजता एवं विशिष्टता लक्षित होती है ।

निबन्ध की अर्थगत विशिष्टता के कारण उसकी भाषा-शैली में भी विशेषता उत्पन्न हो जाती है तथा अर्थ-सम्बन्धों मे वैचित्र्य और गतिशील अर्थ का आविर्भाव होता है ।

मूलत: निबन्ध का मुख्य रूप विचारात्मक होता है, भावात्मक नहीं । विचारात्मक निबन्ध सूक्ष्म विचार दृष्टि से समन्वित होते हैं । इनमें विचारों की ऐसी गूढ-गुंफित परम्परा मिलती है जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड पड़ती है और नये-नये विचारों की उद्‌भावना करती है । इनमे भाषा की नूतन-शक्ति का चमत्कार भी लक्षित होता है । विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहाँ होता है जहाँ एक-एक पैरा में विचार दबा-दबा कर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हुए हो ।

आचार्य शुक्ल ने निबन्ध को 'गद्य की कसौटी' कहा है । क्योंकि उनके अनुसार भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास सबसे अधिक निबन्ध में ही संभव होता है ।

भावात्मक और काव्यात्मक निबंधो का भी गद्य साहित्य में एक विशेष स्थान एवं महत्त्व

---

1 सन् 1940, सं० 2017 का स्वय शुक्ल जी द्वारा सशोधित संस्करण

है, अतः उपयुक्त क्षेत्र मे उसका आविर्भाव और प्रसार वाछित है । परन्तु अनुपयुक्त और अवाछित स्थलो पर उसका हस्तक्षेप विचारशैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलाता है ।

सार रूप मे आचार्य शुक्ल के निबंध विषयक विचार यही हैं । आगे इनका किंचित् विस्तारपूर्वक निरूपण किया जा रहा है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार निबन्ध एक 'गद्य-विधान' है ।[1] उन्होने निबध, प्रबन्ध और लेख[2] को परस्पर पर्यायवाची माना है और इस रूप में निबंध के वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक तथा भावात्मक--ये चार भेद पाते हैं ।[3] परन्तु निबध के भेदो को इन चार तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता क्योकि प्रवीण लेखक प्रसग के अनुसार इन गद्य-विधानो अथवा प्रकारो का सुन्दर मेल करके निबन्ध के नये-नये प्रकार गढ लिया करते है । उदाहरण के लिए, भारतेन्दु के सहयोगियों का निबन्ध-लेखन देखा जा सकता है । इन निबधकारो ने समाज की जीवनचर्या, पर्व-त्योहारो आदि पर भी निबध लिखे । उनके लेखों मे देश की परम्परागत भावनाओं और उमंगों का प्रतिबिब रहा करता था । इन प्रसगों पर निवध लिखने के लिए वे वर्णनात्मक और भावात्मक विधानो का बडा सुन्दर मेल करके एक नया निबध-रूप तैयार कर लेते थे जिसमें सामाजिक सजीवता की विशेष झलक मिलती थी ।[4]

आचार्य शुक्ल के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के निबधों के लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं । उदाहरण के लिए, 'वर्णनात्मक प्रबन्ध का लक्ष्य होता है पाठक की कल्पना को जगाकर उसके सामने कुछ वस्तुएँ या व्यापार मूर्त्त रूप में लाना ।' विचारात्मक निबन्धो मे इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि लेखक के विचारों से पाठक के विचारों का तादात्म्य हो जाये । कथात्मक निबन्धों का लक्ष्य किसी वृत्तान्त या घटना को क्रमबद्ध और रोचक रूप में प्रस्तुत करना होता है, जबकि भावात्मक निबन्धो का लक्ष्य लेखक द्वारा अपने प्रेम, हास, करुणा आदि भावो की व्यंजना करना होता है ।[5]

लक्ष्यों के इस भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के निबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियों का व्यवहार किया जाता है । उदाहरण के लिए, विचारात्मक निबन्धो मे व्यास और समास की रीति तथा भावात्मक निबन्धो मे धारा, तरंग और विक्षेप की रीति के साथ 'प्रलाप शैली' का भी व्यवहार किया जाता है ।[6]

आचार्य शुक्ल का मत है--"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो ।"[7]

शुक्ल जी पाश्चात्य विधा निबन्ध के प्रमुख पाश्चात्य लक्षण 'व्यक्तित्व का सन्निवेश' को

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 464
2 वही, पृ॰ 466 तथा चिंतामणि 3, 233-235
3 वही, पृ॰ 464 तथा चितामणि, 3, 233-235
4 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 464 एव 466
5 चिंतामणि 3, 233-235
6 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ॰ 464
7 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ॰ 464

निबन्ध के लिए अनिवार्य मानते हैं । परन्तु उन्होने उसके यथोचित और मर्यादित रूप पर बहुत बल दिया है । उन्होने लिखा है कि निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता के सन्निवेश की "बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय । व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं है कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड दी जाये, भावो की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाये जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालो की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जायँ ।"[1]

अर्थात् आचार्य शुक्ल के अनुसार 'व्यक्तिगत विशेषता' के आशय को सही रूप मे समझना और निबन्ध में उसको सही रूप मे सन्निविष्ट करना बहुत आवश्यक है । निबन्ध मे व्यक्तिगत विशेषता के सन्निवेश का अर्थ यह नहीं है कि निबन्ध को विचार-शून्य कर दिया जाये अथवा विचार-शृंखला को विच्छिन्न कर दिया जाये । निबंध में विचारों की योजना तो रहती ही है । विचारों के सुसम्बद्ध गुम्फन तथा बोध और अभिव्यक्ति में सामंजस्य के विधान के साथ भी निबंध में व्यक्तिगत विशेषता का सद्भाव किया जा सकता है और किया जाना चाहिए ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार व्यक्तिगत विशेषता के सद्भाव की सही समझ का रूप इस प्रकार है--"संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है । अपने-अपने मानसिक सघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर । ये सबंध-सूत्र पत्तो के भीतर की नसों के समान एक-दूसरे से नथे हुए चारों ओर एक जगल के रूप में फैले रहते हैं । तत्त्वचिंतक और दार्शनिक अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी केवल कुछ सूत्रों को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरो में कहीं नहीं फँसता । पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है । यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है . एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर । इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना । व्यक्तिगत विशेषता का मूलाधार यही है ।"[2]

अतः व्यक्तिगत विशेषता का आशय है लेखक की विशिष्ट प्रकृति के अनुसार विषय की विशेष दृष्टि से प्रस्तुति, और निबन्ध में उसके समुचित सन्निवेश का तात्पर्य है विचारो की सुसम्बद्ध शृंखला के साथ उसका प्रकृत और मर्यादित सद्भाव ।

'व्यक्तिगत विशेषता' विचारात्मक निबंधो में भी विद्यमान हो सकती है, होती ही है, और उसका कारण है निबन्ध-लेखक की विशिष्ट प्रकृति एव मनोवृत्ति । किसी विषय को अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है--सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि । निबधकार किसी भी दृष्टि से विषय को देखने के लिए स्वतत्र है । वह जिस दृष्टि से, जिस रूप में विषय को देखना चाहे, देख सकता है, जिस दिशा में और जिस सूत्र पर चाहे अपनी रुचि के अनुसार

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ 464

2 वही पृ 464

दौड़ सकता है, उसके लिए कोई प्रतिबंध नहीं है, वह स्वच्छंद है । व्यक्तिगत विशेषता इसी से उत्पन्न होती है । विचार और अर्थ विषयक व्यक्तिगत वैशिष्ट्य भी इसी से आता है । शर्त बस यही है कि उसके सद्भाव के लिए निबंध को बलपूर्वक विचारों से शून्य अथवा विचार-सूत्रो को विच्छिन्न न कर दिया जाय ।

स्पष्ट है कि निबन्ध में व्यक्तित्व का सद्भाव करने के लिए आचार्य शुक्ल को किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता, विशृंखलता अथवा दुराग्रहवृत्ति स्वीकार नहीं है । वे उसको सर्वथा त्याज्य मानते हैं । वे वैयक्तिक तत्त्व की गंभीरता पर पूरी सजगता से बल देते हैं । आत्मव्यंजना के परिष्कृत, मर्यादित और प्रकृत रूप को ही ग्राह्य मानते हैं ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार "निबन्ध के लिए कोई विषय या कोई बात अवश्य चाहिए"[1] चाहे वह "छोटी से छोटी, तुच्छ से तुच्छ"[2] क्यों न हो । निबन्ध-लेखक मूल विषयगत अर्थ सम्बन्ध-सूत्र को पकडकर उससे अपनी प्रकृति के अनुसार अपना रिश्ता जोड़ता है । उदाहरण के लिए, "जो करुण प्रकृति के है उनका मन किसी बात को लेकर . करुण स्थलो की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता चलता है । जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर ऐसे पक्षों की ओर दौडती है जिन्हे सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता । इसी प्रकार वस्तु के नाना सूक्ष्म ब्योरों[3] पर दृष्टि गडाने वाला लेखक किसी छोटी से छोटी, तुच्छ से तुच्छ बात को गंभीर विषय का-सा रूप"[3] दे सकता है ।

निबन्ध-लेखक का अपनी विशिष्ट दृष्टि एवं प्रकृति के अनुसार विषय विशेष को भिन्न-भिन्न रूपों में देखना और प्रस्तुत करना ही "अर्थ सम्बन्धों का वैचित्र्य"[4] है । अर्थगत वैशिष्ट्य-वैचित्र्य के कारण निबन्ध की भाषा और अभिव्यंजना-प्रणाली भी विशिष्ट एव विचित्र हो जाया करती है । अर्थगत वैचित्र्य के अनुसार भाषा-शैली की योजना से ही 'अर्थ की गतिशीलता' का सद्भाव होता है । यदि बोध के अनुसार भाषा की, अनुभूति के अनुसार अभिव्यंजना-प्रणाली की योजना न करके निबंध में सर्वत्र और सदा एक ही जैसी भाषा का प्रयोग किया जायगा तो "वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करता हुई जान पडेगी,"[5] 'गतिशील अर्थ की परम्परा' का सद्भाव नहीं कर सकेगी ।' अतएव 'अर्थ की गतिशीलता' का तात्पर्य है निबंध में विषय और उसकी प्रस्तुति के अनुरूप भाषा-शैली की योजना । इस प्रकार 'व्यक्तिगत विशेषता' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य है 'भाषा-शैली और अभिव्यजना प्रणाली' की विशेषता के साथ 'अर्थ सम्बन्धी' विशेषता । उन्होंने कहा, "जहाँ नाना अर्थ-सम्बन्धों के वैचित्र्य का आधार न रहेगा वहाँ केवल भाषा या शैली का निराधार-वैचित्र्य किसी को विचार-शृंखला न रखने मे लगाएगा, किसी को भाषा से सर्कस वालों की

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 464
2 वही, पृ॰ 464
3 वही, पृ॰ 464
4 वही, पृ॰ 465,
5 वही पृ॰ 465

सी कसरत. . . . में प्रवृत्त करेगा . व्यक्तिगत वैचित्र्य के लिए उत्तरोत्तर बढ़ती हुई बातो की विचित्रता पहले होनी चाहिए . . ।''[1]

विषय-विशेष को अपनी दृष्टि और प्रकृति के अनुसार देखने, अपनी मनोवृत्ति एव इच्छा के अनुसार उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता के कारण निबन्ध-लेखक तत्त्व-चिंतक से भिन्न होता है । तत्त्व-चिंतक अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए केवल कुछ सूत्रों को पकड़ कर किसी (एक) ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता । पर निबंध-लेखक के लिए इस प्रकार की कोई शर्त, बाध्यता या अनिवार्यता नहीं होती । वह स्वच्छद होता है । वह अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार, स्वच्छंद गति से, इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है । इसके अतिरिक्त, निबन्ध-लेखक जिधर चलता है, अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनो को साथ लिए हुए चलता है ।[2] फलस्वरूप उसकी रचना एक समूची आत्माभिव्यक्ति होती है, आधा-अधूरी नहीं ।

अतः आचार्य शुक्ल निबन्ध में विषय और उसकी प्रस्तुति के स्वरूप को बहुत गहरी 'अतर्भेदी दृष्टि' से देखने-समझने का प्रयत्न करते हैं तथा उनका निबन्ध लेखकीय व्यक्तित्व की सम्पूर्ण व्यजना कहा जा सकता है ।

आचार्य शुक्ल ने निबंध में अर्थगत वैशिष्ट्य के आधार पर नियोजित भाषा-शैली की विशेषता की चर्चा बहुत विस्तार से की है ।

विचारात्मक निबंधों में सामान्यतया समास और व्यास शैलियाँ व्यवहार में लाई जाती हैं । व्यास शैली मे 'छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग' होता है . . इसमें 'नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढग' अपनाया जाता है जो प्रायः 'समझाने-बुझाने के काम में लाया जाता है । . यह व्यास शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है ।'[3] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचारात्मक निबधो में प्रायः इसी शैली का प्रयोग किया गया है ।

एक होती है 'प्रगल्भ' शैली, जिसका व्यवहार निबन्ध-लेखक किसी आग्रह अथवा संकल्प की स्थिति में करता है । जैसे प० माधवप्रसाद मिश्र की निबन्ध-शैली बहुत प्रगल्भ होती थी । 'जोश में आने पर ये बहुत शक्तिशाली लेख लिखते थे' जिसमें 'तर्क, आवेश और भावुकता सबका एक अद्‌भुत मिश्रण रहता था ।'[4] इनके लेख प्रायः 'मार्मिक और ओजस्वी' होते थे ।[5]

आचार्य शुक्ल के अनुसार माधवप्रसाद मिश्र के निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे

---

1 चिंतामणि 3, पृ. 275
2 वही, पृ॰ 464
3 वही, पृ॰ 467
4 वही, पृ॰ 469
5 वही पृ॰ 470

और धारा शैली पर चलते थे । उनमें बहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वात धारा लगातार चली चलती थी ।'[1]

जैसा कि कहा जा चुका है, आचार्य शुक्ल के अनुसार भावात्मक निबन्धो मे धारा, तरंग और विक्षेप शैलियो का प्रयोग होता है । 'विक्षेप के भीतर ही प्रलाप शैली आती है जिसका बँगला की देखा-देखी कुछ दिनों से हिन्दी में भी चलन बढ़ा है ।[2] 'विक्षेप शैली में भावावेश द्योतित करने के लिए भाषा बीच-बीच मे असम्बद्ध अर्थात् उखडी हुई होती है ।'[3] 'प्रलाप शैली' के संदर्भ में ठाकुर जगमोहन सिंह के गद्य-लेखन की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा, " . भाव-प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप अंकित करने वाली एक प्रकार की प्रलाप शैली भी इन्होंने निकाली जिसमें रूप-विधान का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्द-विधान का ।"[4]

धारा और तंरग शैलियों का योग करके एक नयी शैली भी व्यवहार में लाई गई है जिसमें 'कुछ दूर तक एक ढग पर चलती धारा के बीच-बीच मे भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पडता है . . यहाँ भाषा तरगवती धारा के रूप मे चलती है ।[5]

आचार्य शुक्ल और भी कई प्रकार की शैलियो का चर्चा करते है । गोविन्द नारायण मिश्र की निबन्ध-शैली 'गद्य काव्यवत् शैली' है जो रूढ और अलंकृत है । यह शैली सम्रस, अनुप्रास मे गुँथे हुए शब्द-गुच्छो का अटाला होने के कारण क्रीडा-कौतुक मात्र होकर रह जाती है ।[6] चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने निबंधों मे एक अनूठी ही शैली का प्रयोग किया है । गंभीर और पांडित्यपूर्ण हास, प्रसंग-गर्भत्व, अर्थगर्भित वक्रता, विनोदमयता आदि इस शैली की विशेषताएँ हैं ।[7] अध्यापक पूर्णसिंह के निबंधो में विचारों और भावों को अनूठे ढग से मिश्रित करने वाली एक नयी शैली मिलती है । इस शैली में भाषा की बहुत-कुछ उडान, उसकी बहुत-कुछ शक्ति उसकी लाक्षणिकता पर निर्भर करती है ।[8]

आचार्य शुक्ल के अनुसार भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का गद्य-साहित्य में विशेष स्थान है । अत: उपयुक्त क्षेत्र में उसका आविर्भाव और प्रसार काम्य है ।[9]

इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल ने महाराजकुमार रघुवीर सिंह के भावात्मक प्रबन्धों की 'बहुत ही मार्मिक और अनूठी शैली' की बडी ही तन्मयता के साथ मुग्ध भाव से चर्चा की है । वे कहते हैं--"अतीत के नाना खण्डों मे जाकर रमने वाली प्रकृतिस्थ भावुकता

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 470
2 वही, पृ० 464
3 वही, पृ० 513
4 वही, पृ० 436
5 वही, पृ० 514
6 वही, पृ० 474-475
7 वही, पृ० 476-477
8 वही, पृ० 480
9 वही पृ० 515
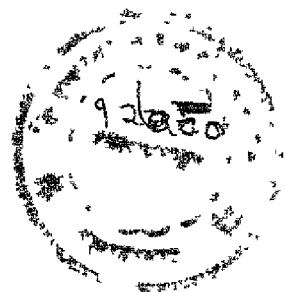
मानव हृदय की एक सामान्य वृत्ति है । बड़े हर्ष की बात है कि यह मार्मिक और चित्रमयी भावना लेकर महाराजकुमार श्री रघुवीर सिंह हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आये । उनकी भावना मुगल सम्राटो के कुछ अवशिष्ट चिह्न सामने पाकर प्रत्यभिज्ञा के रूप मे मुगल साम्राज्य काल के कभी मधुर, भव्य और जय दृश्यो के बीच, कभी पतन काल के विषाद, नैराश्य और बेबसी की परिस्थितियों के बीच बड़ी तन्मयता के साथ रमी है ।"[1]

शुक्ल जी का मत है कि काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख वास्तव में छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही हैं, अतः रचना-भेद से उनमें अर्थ कहीं तो अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है ।

परन्तु उसका सर्वत्र प्रयोग न उचित है, न वांछित । केवल उपयुक्त स्थलों पर, और वह भी उसका यथोचित और मर्यादित प्रयोग स्वागत योग्य होगा । जहाँ गंभीर विचार और व्यापक दृष्टि की अपेक्षा हो वहाँ कल्पना की क्रीड़ा दिखाते हुए उसका प्रयोग किया जाना सर्वथा अवांछित एवं चिन्त्य होगा । उदाहरण के लिए, आलोचनात्मक चिंतन में, या कविता के स्वरूप-निरूपण मे सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार-परम्परा की अपेक्षा है । वहाँ भावात्मक गद्य का प्रयोग अनुचित और त्याज्य है । शुक्ल जी लिखते हैं--"कविता भावमयी, रसमयी और चित्रमयी होती है, इससे यह आवश्यक नहीं है कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय, रसमय और चित्रमय हो ।"[2] कवियों की आलोचना जैसे गभीर विचारपरक विषयों में भी यदि भावात्मक गद्य का 'दखल' होगा तो 'इससे हमारे साहित्य मे घोर विचारशैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशंका है ।'[3]

आचार्य शुक्ल के अनुसार अर्थ चार प्रकार के होते हैं--(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमित, (3) आप्तोपलब्ध और (4) कल्पित ।[4]

भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप से अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है और कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है । निबन्ध में विचार प्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है ।[5]

परन्तु निबंध के विषय में आचार्य शुक्ल की मौलिक, विशिष्ट और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि--'प्रकृत निबन्ध अर्थ-प्रधान होता है, व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थोपहित,'[6] अर्थात् अर्थ के साथ मिला-जुला रहता है । हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच-बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं ।

'अर्थ' से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय 'वस्तु' या 'विषय' से है ।[7]

---

1 चिंतामणि 2, 161
2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 516
3 वही, पृ॰ 516
4 चिंतामणि 2, 159
5 चिंतामणि 2, 159
6 चिंतामणि 2, पृ॰ 162,
7 वही पृ॰ 159

शुक्ल जी का बहुत स्पष्ट, निर्भ्रान्त और सुनिश्चित मत है कि निबन्ध अपने स्वाभाविक रूप में अर्थ-प्रधान अर्थात् विषय-प्रधान होता है । तदनुसार निबंध बुद्धि-प्रधान भी होता है । व्यक्तिगत विशेषतारूपी वाणीगत वैचित्र्य निबन्ध मे रहता अवश्य है पर वह भी अर्थ के साथ ही मिला-जुला रहता है, अर्थात् प्रधानता अर्थ तत्त्व की ही रहती है । उधर हृदय के भाव या वृत्तियाँ भी निबन्ध में विद्यमान रहती हैं पर वे अर्थ के माथ बीच-बीच मे झलक भर जाती हैं । अर्थात् यहाँ भी प्रधानता और व्यापकता अर्थ तत्त्व की ही रहती है, भाव या हृदय तत्त्व की नहीं ।

अतः निबन्ध के दो अनिवार्य उपकरणों--'विषय तत्त्व' और 'व्यक्ति तत्त्व' मे से शुक्ल जी के अनुसार निबन्ध में विषय तत्त्व अपेक्षाकृत प्रधान होता है । अपने प्रकृत रूप में निबन्ध असंदिग्ध रूप से विषय प्रधान और बुद्धि प्रधान है, व्यक्ति-प्रधान और हृदय-प्रधान या भाव-प्रधान नहीं । शुक्ल जी का यही पक्ष है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार निबन्ध-लेखन-कला का तात्पर्य है--'सूक्ष्म विचार दृष्टि-सम्पन्नता ।'[1] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की चर्चा करते हुए उन्होंने क्षोभपूर्वक टिप्पणी की है कि यद्यपि द्विवेदी जी के निबन्ध 'विचारात्मक श्रेणी' में आएँगे तथापि 'विचारो की वह गूढ़ गुम्फित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े ।'[2] उनके अधिकतर लेख 'बातो के संग्रह' के रूप मे ही हैं । उनके लेखों में 'विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं'[3] जिनको पढ़कर लगता है कि ये निबंध नहीं, दो आदमियो की सामान्य बातचीत का संग्रह हो । उनके लेखन में 'भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नये-नये विचारो की उद्‌भावना वाले निबन्ध बहुत ही कम मिलते हैं ।'[4]

शुक्ल जी के अनुसार, 'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हों ।'[5] यह विचारात्मक निबंध की कसौटी है ।

अन्यत्र वे लिखते हैं--उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की शैली 'असाधारण' होती है तथा उनकी विचारधारा 'गहन' होती है जो पाठकों को 'मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि' के रूप में जान पड़ती है ।[6] यह श्रेष्ठ निबंध की कसौटी है ।

उपर्युक्त विवरण एवं विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य लक्षण की दृष्टि से यद्यपि निबन्ध के लिए 'व्यक्तिगत विशेषता' का तत्त्व अनिवार्य है, तथापि निबन्ध में प्रधानता विषय और बुद्धि-तत्त्व की ही

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 466-467

2 वही, पृ॰ 467

3 वही, पृ॰ 467

4 वही, पृ॰ 466

5 वही, पृ॰ 467

6 वही, पृ॰ 513

'चिंतामणि' शब्द की अर्थ-व्यंजना और आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबंधों के उद्देश्य

आचार्य शुक्ल ने अपने निबंधों के सग्रह को सर्वप्रथम 'विचार-वीथी' नाम दिया था और वह इसी नाम से सन् 1930 में प्रकाशित भी हुआ था। परन्तु उनको इस नाम से सतोष नहीं था: यह उन्हें कुछ बड़ा मालूम पड़ता था। वे कोई अपेक्षाकृत छोटा 3-4 वर्णों के पद वाला नाम चाहते थे और अपने सभी प्रकाशित निबंधों को उस नये नाम से कई खण्डो में छपवाना चाहते थे। अत: जब 'विचार-वीथी' का पुनर्मुद्रण हुआ तब उन्होने उसका नाम बदलकर 'चिंतामणि' रख दिया और उसमे चार नये निबध भी जोड दिये।[1]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने चिंतामणि नामकरण का मनोरजक ब्योरा दिया है-- ''यह घटना आचार्य शुक्ल के काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष नियुक्त हो जाने के कुछ दिनों बाद की है। एक दिन विभाग से लौटते समय आचार्य शुक्ल के साथ ताँगे पर आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और मै--तीन जन और बैठ गये। मार्ग में उन्होंने बताया कि 'विचार-वीथी' फिर से छप रही है। उसका कोई छोटा उपयुक्त नाम नहीं सूझ रहा है। कुछ समय के अनतर आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने कहा कि 'चिंतामणि' नाम कैसा रहेगा। क्षण भर बीतते न बीतते आचार्यपाद ने उस नाम की सराहना की और डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने उसके समर्थन मे कहा--पायो नाम चारु चितामणि उर-करते न खसैहौं। बस, सग्रह का नाम तभी से 'चितामणि' हो गया।''[2]

चिंतामणि का पहला भाग सन् 1939 में प्रकाशित हो गया। पर दूसरा भाग शुक्ल जी के दिवंगत होने के बाद ही सन् 1945 में प्रकाशित हो पाया, हालाँकि इसका संग्रह स्वय शुक्ल जी ही कर गए थे।[3] और 'चितामणि 3' तो अभी 1983 मे प्रकाशित हुआ है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार ''चिन्तामणि (प्रथम भाग) वस्तुत: 'चिन्तनमणि' है। इसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मेधा के गहरे चिन्तन के परिणाम हैं. . . इसमे उनकी चिन्तना की मणियाँ संग्रहीत हैं।''[4]

मानक हिन्दी कोश के अनुसार (1) चिंतामणि एक प्रसिद्ध कल्पित मणि या रत्न है जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जिसके पास यह रहता है उसकी सब आवश्यकताएँ

---

1 मंजूषा, पृ० 7
2 वही, पृ० 7
3 वही, पृ० 7
4 मजूषा-प्रकाश

आप से आप और तुरन्त पूरी हो जाती हैं । (2) यह किसी विषय की सभी इच्छाएँ पूरी कर देने वाली वस्तु है । (3) चिंतामणि सरस्वती का एक मंत्र है जो लड़के की जीभ पर इसलिए लिखा जाता है कि उसे खूब विद्या आवे । (4) फलित ज्योतिष में चिंतानणि यात्रा का एक योग विशेष है ।[1]

" 'मानस पीयूष' के अनुसार चिंतामणि 'कौस्तुभ मणि' के समान कांतिमान और सूर्य के सदृश है । इसके दर्शन-श्रवण-ध्यान से चिंतित पदार्थ प्राप्त हो जाता है । उसकी काति के किंचित् स्पर्श से लोहा आदि सोना हो जाता है ।"[2]

आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के नाम सुझाने पर शुक्ल जी ने 'क्षण बीतते न बीतते' उस नाम की सराहना करते हुए जो उसको अपना लिया तो उसका रहस्य अब समझ मे आ रहा है । वास्तव मे 'चिंतामणि' एक ऐसा 'शुभ योग' है जिसके अतर्गत हृदय को साथ लेकर यात्रा पर निकलने वाली बुद्धि के सभी अभीष्ट पूर्ण हो जाते हैं । यह सरस्वती का एक ऐसा चमत्कारी मत्र है जिसके आश्रय मे 'खूब विद्या आती है': चितन मे गहनता, व्यापकता और प्रामाणिकता का सद्भाव होता है, मौलिक विचारो का उन्मेष होता है और जिसकी काति के स्पर्श से कैसा भी महत्त्वहीन विषय क्यो न हो, मूल्यवान, महत्त्वपूर्ण और कातिमान हो जाता है । आज स्थिति यह है कि चिंतामणि के प्रकाशित तीन भागों में मनोविकार विषयक निबंधों से लेकर व्यावहारिक और सैद्धांतिक आलोचना विषयक निबंध, जीवनी, भूमिकाएँ और भाषण तक--सभी कुछ संकलित हैं । वह सबकी सब सामग्री अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है । 'चिंतामणि' का स्पर्श जो उसको प्राप्त हुआ है । केवल प्रथम भाग ही नहीं, चितामणि के प्रकाशित तीनो भाग शुक्ल जी की मेधा के गहरे चितन के परिणाम हैं इनमे सचमुच उनकी 'चितन की मणियाँ' ही संग्रहीत हैं ।

प्रश्न है कि चितामणि मे सग्रहीत निबंधो के प्रणयन में आचार्य शुक्ल का अभीष्ट क्या है ?

उत्तर यह है कि इस अभीष्ट के अनेक आयाम हैं । निबधों के उद्देश्य के रूप मे यहाँ उन आयामों के निरूपण का उपक्रम किया जा रहा है ।

मूल उद्देश्यो मे से पहला तो यही है कि इनके माध्यम से समुचित वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पूर्व प्रकृति, जीवन और जगत् तथा व्यक्ति और समाज से सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्तर पर साहित्य के सम्बन्ध के विषय में सारगर्भित मौलिक चिंतन और स्वानुभूत सत्य की प्रस्तुति की जाय । भारतीय चितन पद्धति के मेल मे साहित्य के समुचित गभीर मूल्यांकन और तत्कालीन राष्ट्रीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए यह आवश्यक भी था । आचार्य शुक्ल अपने इस उद्देश्य की सिद्धि मे पूर्णत: सफल हुए ।

शुक्ल जी अपने समय तक लिखे गए हिन्दी गद्य और निबन्धों के स्तर को लेकर

---

1 संपादक : रामचद्र वर्मा, 2/238

2 भाग पृ 510

खासे चिंतित थे । उनकी इस चिता का एक विशेष सदर्भ उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी के पाठ्यक्रम-निर्माण का था । आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य की परम्परा के पहले दौर (सन् 1868-1893) में यद्यपि हिन्दी भाषा का स्वरूप स्थिर हो गया था,[1] हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप भी प्रकट हो चुका था,[2] हिन्दी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं व्यवहारोपयोगी रूप भी निखर आया था,[3] लेखकों में मौलिकता और विदग्धता थी और उनकी हिन्दी हिन्दी होती थी वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचानते थे,[4] तथापि हिन्दी गद्य और निबन्ध साहित्य मे अभी प्रौढता-गंभीरता नहीं आई थी ।

द्वितीय उत्थान (1893-1918) मे भी 'भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करने वाले गूढ-गभीर निबन्ध लेखक' नहीं तैयार हो पाए ।[5] इस कालखड के अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' जैसे ही रह गए, वे लेखकों के अंत:प्रयास से निकली विचारधारा के रूप में प्रौढता प्राप्त नहीं कर पाए । उदाहरण के लिए, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेख विचारात्मक होते हुए भी सूक्ष्म विचार दृष्टि से नहीं लिखे गए । विचारों की वह गूढ़-गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े ।

दूसरे दौर के संदर्भ में उन्होंने बहुत क्षुब्ध होकर टिप्पणी की--"खेद है कि समास शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखने वाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा कसी हो, अधिक लेखक हमें न मिले ।"[6]

तात्पर्य यह है कि द्वितीय उत्थान के भीतर भी उत्तरोत्तर उच्चकोटि के स्थायी गद्य साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ । अधिकांश लेखक ऐसे ही कामो मे लगे रहे जिनमें बुद्धि को श्रम कम पड़े । फल यह हुआ कि विश्वविद्यालयो में हिन्दी की ऊँची शिक्षा का विधान हो जाने पर उच्चकोटि के गद्य की पुस्तकों की कमी का अनुभव चारों ओर हुआ ।[7]

गद्य-लेखकों का यही रवैया आचार्य शुक्ल को चिंता में डाले हुआ था, क्योंकि वे हिन्दी के प्रति, हिन्दी साहित्य के प्रति, पाठ्यक्रम के प्रति, उच्च शिक्षा के प्रति और प्रकारान्तर से देश के प्रति अपने दायित्व का बहुत सजगता और गहराई से अनुभव करते थे । इसलिए उन्होने स्वयं ही इस दिशा में सक्रिय होने का संकल्प किया और उच्च शिक्षाक्रम की अपेक्षाओं के अनुसार ऐसे 'उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों की' रचना की जिनकी 'असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े . जिनमे

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 413
2 वही, पृ० 421
3 वही, पृ० 415
4 वही, पृ० 421
5 वही, पृ० 452
6 वही, पृ० 482
7 वही, पृ० 465

र्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास[1] लक्षित हो सके ।'

यह उल्लेख्य है कि आचार्य शुक्ल ने अपने मनोविकार विषयक दसो निबंध इसी अवधि--सन् 1893 से 1918--में लिखे थे और इस प्रकार अपने दायित्व का निर्वाह किया था। अतः आचार्य शुक्ल के निबंधों का, विशेषकर मनोविकार विषयक निबधो की रचना का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य उच्च हिन्दी शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति भी था ।

निबन्ध लेखन में आगे भी कोई प्रगति नहीं हुई और जो स्थिति द्वितीय उत्थान मे दिखाई पड़ी थी प्रायः वही स्थिति 1918-1940 में भी बनी रही ।[2] उच्च शिक्षाक्रम के लिए उत्कृष्ट कोटि के निबंधों की 'जितनी ही अधिक आवश्यकता थी उतने ही कम वे सामने आ रहे थे ।'[3]

इसलिए मनोविकार विषयक निबन्ध ही क्यो, आगे सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा विषयक जो निबन्ध शुक्ल जी ने लिखे उनके प्रणयन का भी एक प्रमुख उद्देश्य पाठ्यक्रम की आवश्यकता की पूर्ति ही रहा होगा ।

आचार्य शुक्ल ने निबन्ध के जो आदर्श और प्रतिमान निर्धारित किए उन पर सामान्य निबन्ध-लेखन का खरा उतरना कठिन था। अभिनव विचारोन्मेष में समर्थ अर्थ की गूढ गुम्फित कसावटभरी परम्परा, चुस्त भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार, हृदय की अच्छी झलक और शैली की असाधारणता जैसे उत्कृष्ट तत्त्व तत्कालीन निबन्धों मे कहाँ मिलते ।[4] इसलिए खडी-बोली के आदर्श का निर्वाह करते हुए इस कोटि के निबन्ध शुक्ल जी ने स्वय लिखे । उनके निबन्ध अपने प्रतिमान स्वयं हैं । उनके द्वारा नियत आदर्शों एव प्रतिमानो पर स्वय उनके निबध ही खरे उतरते है । उनके निबधों की असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को वास्तव में 'मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि' जान पड़ी । वे निबन्ध को गद्य की कसौटी मानते थे, क्योंकि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध में ही सबसे अधिक संभव था । उनके निबन्धों की भाषा उनकी इस मान्यता को चरितार्थ करती थी । अतएव, उनकी रचना का एक उद्देश्य भाषा की शक्ति का सर्वतोन्मुखी विकास करना भी था । अपनी मान्यताओं के अनुसार लेखन करके निबन्ध-रचना का प्रत्यक्ष आदर्श एव प्रतिदर्श प्रस्तुत करना भी उनका उद्देश्य था ही ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार मनोविकार ही समस्त मानवीय क्रिया-कलाप के प्रवर्त्तक और शील-वैचित्र्य के कारक हैं । 'व्यक्ति-स्तर पर शील-वैचित्र्य के मूल में भावों का विशेष प्रकार का संघटन कार्य करता है . . . लोक-स्तर पर लोक-संग्रह और लोक-रंजन दोनो के मूल में मनोभाव ही क्रियाशील रहते हैं । जगत के इस रूपगतिमय प्रसार के साथ

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 513
2. वही, पृ॰ 513
3. वही, पृ॰ 513
4. हालाँकि इधर अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि कई निबन्ध-लेखकों के इसी कोटि के श्रेष्ठ निबध प्रकाशित हुए हैं ।

मानव-अंत:करण के रागात्मक सामंजस्य के अभाव में जीवन के सौंदर्य का प्रस्फुटन संभव नहीं है । इसलिए, यदि व्यक्ति को समझना है, व्यक्ति और समाज के गूढ़ सम्बन्धों को समझना है, प्रकृति के साथ उसके चिरन्तन अस्तित्व और लगाव को समझना है तथा व्यक्त जगत से परे किसी विश्वात्मा की अवधारणा एवं मानव-नियति के निर्धारण में उसकी अलक्ष्य भूमिका को समझना है तो मानव मनोभावों का'[1] अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है ।

आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्ध वास्तव में उनके आलोचनात्मक चिंतन का व्यावहारिक मूलाधार और उसकी सार्थक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं । उनके चिंतन की प्रकृति से स्पष्ट है कि वे बाह्य जगत् और मानवीय जीवन की ठोस वास्तविकता के आधार पर ही अपने सिद्धातों की स्थापना करना चाहते हैं । ये निबंध भावो-मनोवृत्तियो के माध्यम से साहित्य, प्रकृति और जीवन में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित और निरूपित करते हैं । शुक्ल जी एक ओर बहुत संदर्भपूर्वक यह स्थापना करते है कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है, दूसरी ओर यह प्रतिपादित करते हैं कि भाव के अभाव मे कविता का अस्तित्व ही सभव नहीं, और तीसरी ओर मानव-वृत्तियों को आलोचना के मानदण्ड के रूप में स्वीकृत करते हुए जीवन और साहित्य के सदर्भ में भाव के त्रिविध महत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं ।

आचार्य शुक्ल के समग्र चिंतन मे जिन भाव एवं मनोविकारों को इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राप्त है उनके स्वरूप, गति, प्रवृत्ति, प्रतीति, प्रभाव आदि का प्रामाणिक और सम्यक् बोध अत्यंत आवश्यक है । मनोविकार विषयक निबधों की रचना इसी निमित्त हुई है ।

स्वयं आचार्य शुक्ल ने 'मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों की छानबीन'[2] को इन निबधो की रचना का एक उद्देश्य माना है ।

इन निबन्धों में मनोविकारों के गहन-विशद विश्लेषण-विवेचन का एक लक्ष्य लेखकीय स्वानुभूति के आधार पर यह निर्देश करना भी है कि जीवन के विविध क्षेत्रो में, सदर्भों और व्यापारों में, लोक से सम्बन्ध के विविध रूपों में तथा प्रकृति के सम्पर्क-साहचर्य के विविध अवसरों पर मनुष्य के भाव या उसकी मनोवृत्तियाँ, उसकी प्रतिक्रियाएँ या व्यवहार-पद्धतियाँ क्या रूप धारण करती हैं और क्यो ?

अत: ये निबन्ध लेखक के व्यापक, गहन और घनिष्ठ जीवनानुभव तथा उसकी तीक्ष्ण पर्यवेक्षण शक्ति को भी व्यजित करते हैं । इनमे स्थान-स्थान पर लेखक ने मनोविकारों के बारे में शुद्ध मनोविज्ञानशास्त्रीय चितन से भिन्न अपने अनुभव का विवरण भी प्रस्तुत किया है ।

आचार्य शुक्ल अपनी जागतिक और मानववादी दृष्टि के अनुसार लोक के सर्वाधिक जीवंत प्राणी मनुष्य और उसकी सर्जनात्मकता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति साहित्य के प्रति अपनी पूरी आस्था और निष्ठा व्यक्त करते हैं । उन्होंने एक ओर सामान्य मनुष्य को केन्द्र में रखकर उसके अंतर्जगत्, उसकी प्रेरणाओ और अभिवृत्तियों का अध्ययन किया तो दूसरी ओर तत्कालीन

---

1 प्रोफेसर रामचंद्र तिवारी

2 चिंतामणि 1 पृ 80

रोमानी प्रवाह के अंतर्गत रचनाकार के व्यक्तित्व और उसकी अंतर्वृत्तियों को महत्त्व दिया। वास्तव में यह पूरा काल-खड ही अतर्जगत्, अंतर्वृत्ति और अतर्यात्रा की प्रधानता का है। उन्होंने कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने वाली उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अंत:प्रकृति एव अतर्वृत्तियो की छानबीन करने वाली आलोचना को 'उच्चकोटि' की समालोचना घोषित करके हिन्दी आलोचना की इस आधुनिक प्रवृत्ति का स्वागत किया।[1]

अतएव, मनोविकार विषयक ये निबंध युगीन चेतना के मुख्य दबाव के अंतर्गत लिखे गए हैं और इनका उद्देश्य रचना की समझ को विकसित करके आलोचना के मान को उन्नत करते हुए आस्वाद की प्रक्रिया को प्रशस्त करने के निमित्त उनके मूलाधार स्वरूप भावों का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करना भी है।

आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक चिंतन से स्पष्ट है कि वे भारतीय रस-सिद्धान्त को अपने समस्त आलोचनात्मक व्यापार का मेरुदण्ड मानते हैं। परन्तु वे रस-सिद्धान्त को उसके परम्परागत शास्त्रीय रूप मे ग्रहण नहीं करते अपितु उसको स्वानुभूति और प्रत्यक्ष-व्यावहारिक जीवन के आधार पर ग्रहण एवं निरूपित करते हैं। उनके मनोविकार विषयक निबन्ध रस-मीमांसा के उनके निजी मौलिक स्वरूप को निरूपित करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये निबंध उनके भाव एवं रस-विवेचन को आधुनिक मनोविज्ञान से सास्कारित करके उसको सर्वथा वैज्ञानिक एव प्रामाणिक आधार भी प्रदान करते हैं।

❑❑❑

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ 483 488

आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्धों की सामान्य विशेषताएँ

आचार्य शुक्ल ने मनोविकार विषयक दस निबध लिखे है । ये निबध भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति आदि शीर्षको के अतर्गत 'चितामणि' (पहला भाग) में प्रथम दस निबधों के रूप में सकलित हैं । इसमें कुल सत्रह निबध है । शेष छः निबंध सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा विषयक हैं । आचार्य शुक्ल की जीवनी के लेखक चंद्रशेखर शुक्ल के अनुसार मनोविकार विषयक ये दसो निबंध सन् 1912 से 1918 के बीच लिखित एवं प्रकाशित हो गये थे ।[1] सन् 1939 मे ये निबंध 'चिंतामणि' मे 'परिवर्द्धित रूप' मे प्रकाशित हुए । चिंतामणि के इस पहले भाग का संग्रह स्वय शुक्ल जी ने किया था और उनके स्वलिखित संक्षिप्त 'निवेदन' के साथ यह सग्रह उनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था । स्वय आचार्य शुक्ल ने इस संग्रह के निवधो को 'विचारात्मक निबन्ध' विशेषण प्रदान किया है ।[2] जीवनी लेखक पडित चंद्रशेखर शुक्ल के अनुसार, 'दार्शनिकता मे सरसता' इन निबंधो की 'अत्यन्त दुर्लभ विशेषता' है ।[3]

मनोविकारों पर लिखने की परम्परा हिन्दी में बहुत पहले से शुरू हो जाती है । हिन्दी के प्रथम आधुनिक निबन्ध-लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'खुशी' शीर्षक पर एक लंबा निबध लिखा था । हालाँकि यह निबन्ध 'सहज और शुद्ध उर्दू भाषा' मे लिखा गया था पर लिपि इसकी देवनागरी ही थी । अद्यावधि उपलब्ध जानकारी के अनुसार हिन्दी में मनोविकार विषयक पहला निबंध पंडित बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित है जिसका शीर्षक है 'प्रीति' । यह निवध सर्वप्रथम सन् 1876 में 'सुदर्शन समाचार' नामक समाचारपत्र में प्रकाशित हुआ था ।[4] भट्ट जी ने मनोविकारों पर क्रमशः कई और भी निबंध लिखे । उदाहरण के लिए, उनका 'सहानुभूति' शीर्षक निबंध सन् 1891 में, 'आत्मनिर्भरता' सन् 1893 मे तथा 'भक्ति' शीर्षक निबध सन् 1899 में प्रकाशित हुआ । उन्होंने 'बोध, मनोयोग और युक्ति', 'आत्मत्याग', 'हृदय', 'मन और प्राण', 'वक्रता या कुटिलाई, 'कर्त्तव्यपरायणता', 'कौतुक', 'शोभा और सामर्थि' जैसे समशील विषयो पर भी निबंध लिखे ।[5] पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने सन्

---

1 चद्रशेखर शुक्ल--रामचद्र शुक्ल, पृ॰ 275

2 चितामणि, पहला भाग, शीषक पृष्ठ

3 चद्रशेखर शुक्ल, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृ॰ 276

4 मधुकर भट्ट, पडित बालकृष्ण भट्ट व्यक्तित्व और कृतित्व । पृ॰ 150

5 वही पृ 78 80 तथा भट्ट निबन्धावली दूसरा भाग धनञ्जय भट्ट और बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह व्यास

1893 मे 'मनोयोग' शीर्षक निबंध लिखा ।[1] पडित माधव प्रसाद मिश्र ने 'धृति' और 'क्षमा' शीर्षक के दो निबध लिखे ।[2] तदनन्तर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'क्रोध' (सन् 1905) और 'लोभ' (सन् 1908) शीर्षक निबध लिखे ।[3]

तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल को मनोवैज्ञानिक निबन्ध-लेखन की एक पूरी परम्परा प्राप्त हुई थी और उनके मनोविकार विषयक निबन्ध उसी पहले से चली आती हुई परम्परा की अगली कडी थे । बल्कि यह कहना अधिक समीचीन होगा कि आचार्य शुक्ल अपने इन निबन्धो के प्रणयन मे उस परम्परा से प्रेरित हुए थे । मनोविकार विषयक इन सभी पूर्ववर्ती निबधों का वैचारिक स्तर बहुत ही हलका है, विषय प्रतिपादन भी बहुत सतही है तथा इनकी लेखन-दृष्टि भी उपदेशात्मक और नैतिक-धार्मिक है । ये निबंध किसी प्रकार के गभीर लेखन का अहसास नहीं कराते । इसके विपरीत, शुक्ल जी के इन निबंधो का इस परम्परा में विशिष्ट स्थान एव महत्त्व है । उनके वैशिष्ट्य और महत्त्व का प्रमुख कारण यह है कि उनके ये निबध मनोवैज्ञानिक पडताल से समन्वित और सम्बद्ध विषय के गहन-विशद चिन्तन-मनन से पुष्ट है । उनको पढकर यह तत्काल और असंदिग्ध रूप से समझ में आ जाता है कि ये निबन्ध किसी बहुअधीत, व्यापक जीवनानुभव से सम्पन्न प्रतिभाशाली लेखक की गुरु-गभीर किन्तु सरस रचनात्मक कृतियाँ है, मन-बहलाव के हलके-फुलके वायवीय उपकरण नहीं ।

उदाहरण के लिए, 'प्रीति' शीर्षक निबध मे भट्ट जी लिखते है--''प्रीति एक ऐसी मनोवृत्ति है जो स्वभावत: विश्वासपरायण, सरल-स्वच्छ दर्शनाक्रूरवृत्तिशून्या एव कुसुम सदृश कोमला और संसार की सार वस्तु है । यह वह आकर्षण-शक्ति है जो न्यूटन महाशय के प्रगट किए बिना ही आप ही आप प्रगट हुई है यह वह इन्द्रजाल जानती है जिसके बल से यह अनेक रूप धारण कर लेती है . यह वह मोहन मंत्र है कि जिसके साधन से जगत वशीभूत हो सकता है . । हे भारतीय प्रजागण, तुम कब सपूर्ण कपट वचक वृत्ति, परस्पर की ईर्ष्या, द्रोह, स्वार्थ तत्परता और निष्ठरता आदि खल प्रकृति का त्याग कर, परम पवित्र बन्धु-प्रेम, ऐक्य और सुमति से पूर्ण हो सर्वसाधारण के सुख एव दु:ख में सुखी या दुखी . होगे ।''[4]

स्पष्ट है कि निबन्ध-लेखन मे भट्ट जी का उद्देश्य 'प्रीति' का विश्लेषण नहीं है अपितु वायवीय ढग से उसकी विशेषताओ एव चमत्कारो का उल्लेख तथा शुष्क-स्थूल सामाजिक उद्बोधन है ।

इसकी समकक्षता में आचार्य शुक्ल के 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध की कुछ सम्बद्ध पंक्तियाँ इस प्रकार हैं--''किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध मे मन में ऐसी स्थिति को जिसमे उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य

रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 427

2 माधव मिश्र निबध माला, प्रथम भाग, सपादक द्वय--चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा एव झाबरमल्ल शर्मा

3 'संकलन', पृ॰ 24 और 70

4 'बालकृष्ण भट्ट के निबंधो का सग्रह संपादक त [illegible] व्यास

या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पडे, लोभ कहते हैं । . विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते है ।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना ।

सामान्य-विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोभ दृष्टि जितनी ही सकुचित होती है . . उतना ही उसका दोष कम होता है . प्रेम का प्रभाव एकान्त भी होता है और लोक जीवन के नाना क्षेत्रो मे भी दिखाई देता है . प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेकता है प्रेमी . प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौन्दर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है । यह प्रवृत्ति इस बात का सकेत . है कि मनुष्य की अंत:प्रकृति मे प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौन्दर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में ।''[1]

आप देखें कि शुक्ल जी न तो वायवीय ढग से लोभ और प्रीति की विशेषताएँ बताते है, न स्थूल उपदेश देते हैं । इसके विपरीत, वे मनोवैज्ञानिक संदर्भों से जुड़ते हैं, मनोभावो के तारतम्य का निरूपण करते हैं, मनोविकार विशेष के भेद बताते है, जीवन और जगत से मनोविकार विशेष का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, गहन विवेचन-विश्लेषण करते है, अपने मौलिक विचार और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं तथा इस पूरी प्रक्रिया में उनका लेखन गभीर और अनुशासित बना रहता है ।

पडित माधव प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'धृति' और 'क्षमा' शीर्षक निबन्ध महर्षि मनु द्वारा निर्दिष्ट धर्म के लक्षणों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं । 'धृति' निबन्ध मे 'धृति' शब्द के विविध अर्थ, महत्त्व और उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, और उसकी प्रशसा की गई है--''स्मार्त्त टीकाकारों ने 'धृति' शब्द का अर्थ बहुधा 'संतोष' किया है और किसी-किसी ने इसका अर्थ धैर्य भी लिखा है । . सतोष वह शक्ति है जिससे ईश्वरीय शक्ति पर अपना अधिकार हो जाय ! . . . . पहले महात्माओ का संतोष स्वार्थ मे था और अब के महापुरुषों का परमार्थ में है . ।''[2]

इसकी भाषा भी दृष्टव्य है--''जो पुरुष अपने को धार्मिक या हरिभक्त बनाना चाहे उसे समझ लेना चाहिए कि एक दिन उसे प्रह्लाद के समान अग्नि मे बैठना पड़ेगा. . ।''[3]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'क्रोध' शीर्षक निबन्ध की तो शुरुआत ही इस प्रकार से होती है--''याद रखिए, क्रोध से और विवेक से शत्रुता है । क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है । क्रोध एक प्रकार की प्रचंड आँधी है । क्रोध से बचने अथवा क्रोध को दूर करने के

---

1 चितामणि 1, लोभ और प्रीति' शीर्षक निबध

2 माधव प्रसाद मिश्र निबध माला, प्रथम भाग, पृ॰ 25-26

3 वही, पृ॰ 28

लिए क्रोध करना उचित नहीं . ।''[1]

और 'लोभ' शीर्षक निबंध इस तरह से शुरू होता है--''लोभ बहुत बुरा है । वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है, क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता ।''[2]

इन दोनो पूरे के पूरे निबंधों की शैली, प्रकृति और उनका स्तर यही है ।

प्रतीत होता है कि शुक्ल जी इन पूर्ववर्ती मनोवैज्ञानिक निबंधों के उथले और हलकेपन से क्षुब्ध होकर ही अपने इन गुरु-गभीर निबंधों की रचना में प्रवृत्त हुए थे । उनका क्षोभ ही उनके लिए प्रेरक बन गया था । शुक्ल जी के निबंधो मे खड़ी बोली हिन्दी की प्रकृति पूर्णतः सुरक्षित है ।

हालाँकि उन्होने अपने इन निबन्धो मे स्थान-स्थान पर जिस गोचर बिबविधायी भाषा का प्रयोग किया है उसके लिए पृष्ठभूमि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के उल्लिखित निबन्धो मे ही बनने लगी थी । द्विवेदी जी ने लिखा--''क्रोधी अनेक बुरे विकारो की खिचड़ी है ।''[3] लोभियों को खजाने के संतरी समझना चाहिए ।''[4] शुक्ल जी ने लिखा--''कर्ता से बढकर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं ।''[5] ''प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण ।''[6] ''वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है ।''[7]

आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध 'मनोविकार विषयक निवन्ध' कहलाते हैं । इन निबन्धो के लिए सामान्यतया प्रयुक्त इस अभिधान से ही यह स्पष्ट है कि ये विषद-प्रधान निबन्ध हैं । स्वय शुक्ल जी इनको 'विचारात्मक'[8] निबन्ध कहते है । इससे ये बुद्धि-प्रधान सिद्ध होते हैं । आचार्य शुक्ल अपने इन विषय-प्रधान और बुद्धि-प्रधान निबंधो मे विचारो के निरूपण विवेचन-विश्लेषण और प्रतिपादन के लिए वैज्ञानिक एव शास्त्रीय पद्धति अपनाते है । उनमे व्यवस्था, गंभीरता, तर्कसगति और स्पष्टता बराबर मिलती है ।

मनोविकार विषयक कुल दस निबन्धों मे पहले निबन्ध का शीर्षक है--'भाव या मनोविकार ।' शेष नौ निबध मनोविकार विशेष से सम्बद्ध हैं । इन नौ में से तीन निबन्धो मे दो-दो मनोविकारों पर युग्मक रूप मे एक साथ विचार किया गया है, शेष छः मे पृथक्-पृथक् शीर्षक के अतर्गत एक-एक मनोविकार विशेष पर । पहला निबन्ध शेष निबन्धो

---

1 सकलन, पृ॰ 24

2 वही, पृ॰ 70

3 वही, पृ॰ 26

4 वही, पृ॰ 74

5 चिंतामणि 1, पृ॰ 18

6 वही, पृ॰ 18

7 वही, पृ॰ 138

8 वही भाग 1

की भूमिका जैसा है । इस निबंध मे मूल अनुभूति और मनोविकार मे अतर, भावों की सुख-दु:खात्मकता, भावों की अनेकरूपता के कारण भावों की परस्पर अनुभूतियों मे भेद का तात्विक स्वरूप, मूल अनुभूतियो द्वारा प्रेरित शारीरिक क्रियाओ की प्रवृत्ति, मानव-जीवन और मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ भावों के विकास की प्रवृत्तिरूपता आदि के निर्देश के साथ-साथ यह महत्त्वपूर्ण स्थापना भी प्रस्तुत की गई है कि समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक तथा शील के सस्थापक भाव या मनोविकार ही होते हैं ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार सुख और दु:ख मूल अनुभूतियाँ हैं । ये अनुभूतियाँ जब प्रेम, हास, उत्साह आदि का रूप धारण करती हैं तब 'मनोविकार' कहलाती हैं । मनोविकार एक संश्लिष्ट अनुभव है । उदाहरण के लिए, दु:ख की भावना + उसके कारक का ज्ञान + मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ = मनोविकार संश्लेष (क्रोधरूपी मनोविकार)। शुक्ल जी भाव और मनोविकार को तो पर्याय मानते हैं पर 'भाव' और 'मनोवेग' मे अतर करते हैं: उनके अनुसार भाव आलंबन-प्रधान होता है जबकि मनोवेग आलंबन-प्रधान नहीं होता ।[1]

वे भाव की विकासवादी व्याख्या करते है : वे संवेदन, वासना और भाव में एक विकास-क्रम लक्षित करते हुए अंतर का निर्देश करते हैं । उनके अनुसार संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है तथा भाव संवेद्य अर्थात् आलंबन-प्रधान होता है ।[2]

भाव-विशेष के प्रसंग में आचार्य शुक्ल मनोवैज्ञानिक संदर्भों से जुड़ते हुए भाव-चक्र मे भाव का स्थान बताते हैं, भाव के वर्ग, भाव-संगठन के स्वरूप, भाव के हेतु, कारक और लक्षण, भाव की परिभाषा, अनुभावों के स्वरूप, दो भावों की तुलना, उनमें तारतम्य एव अंतर, सदृश, सजातीय और सवर्गीय भाव, भाव विशेष के विविध रूप, उसकी विविध कोटियों या श्रेणियों आदि का विधिवत् निर्देश करते हैं । तदनन्तर वे भाव के प्रतिक्रियात्मक और सामाजिक पक्ष पर आते हैं । यहाँ वे बड़े विस्तार से तथा सरस और रोचक ढंग से चर्चा करते हैं कि समाज के विविध तबको में भाव-विशेष की क्या स्थिति होती है, या कोई भाव विशेष समाज के विविध तबकों में क्या-क्या रूप ग्रहण करता है और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है । उदाहरण के लिए, वे भाव-विशेष के संदर्भ में बच्चों की, स्त्री-पुरुष की, सभ्य-असभ्य जातियों की, समाजों के बारे में, नैतिक-अनैतिक अच्छे-बुरे व्यक्तियों, माता-पिता की, अपरिचित-सुपरिचित व्यक्तियों के बारे मे, नित्य दिखाई पड़ने वाले लोगो या बिल्कुल अज्ञात व्यक्ति के बारे में, यहाँ तक कि पशुओं आदि के बारे में भी चर्चा करते हैं । वे व्यक्तिगत और लोकगत प्रतिक्रिया का विवरण भी प्रस्तुत करते चलते हैं । चर्चा के दौरान वे बराबर उदाहरण देकर अपने मंतव्यों को स्पष्ट और विचारो को पुष्ट करते चलते हैं । वे उदाहरण देते अवश्य हैं, यह उनकी विवेचन शैली का अनिवार्य अंग है । कहीं-

---

1 चिंतामणि भाग 1, 'भाव और मनोविकार' शीर्षक निबन्ध

2 रस मीमांसा पृ० 19

के बीच स्थान-स्थान पर विचार-सरणि के जो संकेत मिले 'उन्हीं के बल पर पूरे ग्रंथ की नियोजना कर दी ।'[1]

चिंतामणि में संग्रहीत आलोच्य निबन्धों और 'रस-मीमांसा'--दोनों में उपलब्ध भाव विषयक चितन मे आचार्य शुक्ल शैंड, मैक्डूगल आदि पाश्चात्य मनोवेत्ताओं तथा हर्बर्ट स्पेन्सर, डार्विन आदि के विचारो से प्रभावित और प्रेरित हैं । इनमें भी शैंड का विशेष प्रभाव है और वह 'रस-मीमासा' में अपेक्षाकृत अधिक सुव्यक्त एव स्पष्ट है । सामान्यतया आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत की गई प्रायः सभी मनोविकारों की परिभाषा, उत्पत्ति, हेतु, स्वरूप, व्यापकता, मानव-जीवन मे उनकी सार्थकता-उपयोगिता आदि की विवेचना शैंड के सम्बद्ध चिंतन पर आधारित अथवा उससे प्रेरित है । शुक्ल जी द्वारा निरूपित मानसिक संगठन के सिद्धान्त, भाव के प्रकार्य, शील निरूपण आदि में भी शैंड का प्रभाव या उसकी प्रेरकता लक्षित की जा सकती है । शुक्ल जी के स्थायी भाव-चक्र की परिकल्पना भी शैंड के तद्सम्बद्ध चितन से प्रेरित हैं ।

उदाहरण के लिए, शुक्ल जी भावो को 'समस्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक' और शील या चरित्र का मूल मानते हैं । वे कहते है[2]--

(क) समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते है ।

(ख) मनुष्य की प्रवृत्तियो की तह में भी भावों की ही प्रेरकता विद्यमान रहती है ।

(ग) शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही होता है ।

शुक्ल जी के ये विचार शैंड के इन कथनो से प्रेरित प्रतीत होते हैं :

(क) The systems of the emotions are forces that enable us to perform the actions

(ख) ..... the primary emotions as root forces of character.[3]

लेकिन आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध मनोविकार विषयक होने के बावजूद, विवेचन-विश्लेषण की वैज्ञानिक और शास्त्रीय पद्धति अपनाने के बावजूद और पाश्चात्य आधुनिक मनोवेत्ताओ के विचारों से प्रेरित-प्रभावित होने के बावजूद शुद्ध मनोवैज्ञानिक लेख नहीं हैं । स्वरूप, पद्धति, शैली या लक्ष्य, किसी भी दृष्टि से इनको शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं कहा जा सकता । इसका कारण यह है कि इन निबन्धों मे लक्ष्य की भिन्नता है, तथा स्वरूप, पद्धति और शैली--सभी स्तरों पर इनमें लेखक की निजता, उसके व्यक्तित्व और भाव-पक्ष का पर्याप्त सद्भाव है ।

---

1 रस मीमांसा, भूमिका

2 चिंतामणि, 'भाव और मनोविकार' शीर्षक निबध

3 'The Foundations of Character,' पृ 197-198 । शैंड की यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् 1914 मे प्रकाशित हुई थी ।

उदाहरण के लिए, इन निबन्धो में लेखक का ध्यान बराबर अपने विवेच्य विषय और प्रतिपाद्य पर ही केन्द्रित रहता है, तथ्य के सूक्ष्म, गंभीर और व्यवस्थित निर्वचन की प्रधानता रहती है, फिर भी ये निबन्ध शुद्ध शास्त्रीय प्रतिपादन की भाँति न तो निपट निर्वैयक्तिक होने पाए हैं, न किसी प्रकार की दार्शनिक जटिलता में उलझने पाए हैं और न ही ये किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की स्थापना अथवा निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । इनका लेखक तत्त्वचितक की भाँति किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के निमित्त केवल कुछ उपयोगी सूत्रो को पकड़ कर सीधे शास्त्रीय उद्देश्यों की ओर बढता भी नहीं चला जाता । यहाँ लेखक की दृष्टि व्यावहारिक और लोकपरक है । इन निबन्धों मे वह प्रत्येक स्तर पर प्रत्यक्ष भारतीय जीवन और समाज से जुडा हुआ है । रस मीमांसा में तो मनोभावों के विवेचन का लक्ष्य स्पष्ट और निर्दिष्ट रूप से साहित्यशास्त्रीय है, पर 'चिंतामणि' में लक्ष्य उतने निर्दिष्ट रूप से साहित्यशास्त्रीय न होते हुए भी साहित्यिक है, तथा नैतिक-सामाजिक और सांस्कृतिक भी है । इन निबन्धो में भावो के स्वरूप आदि का निरूपण सामाजिक-साहित्यिक दृष्टि से लोक-मगल एवं सामाजिक शुभत्व की दृष्टि से तथा रस की लौकिक-व्यावहारिक स्थिति और प्रतीति की दृष्टि से किया गया है । यहाँ लेखक किसी प्रकार की शास्त्रीय विवशता में नहीं बँधता बल्कि अपनी व्यक्तिगत रुचि तथा अपने व्यापक जीवनानुभव के मुक्त, सरस किन्तु संयमित स्पन्दन के लिए पूरा अवसर प्राप्त करता है । सामान्य शास्त्रीय परम्परा के विपरीत वह विषय-विवेचन के क्रम मे अपने मौलिक विचार, निजी विश्वास और निर्णय व्यक्त करने की स्वतंत्रता भी लेता है । वह स्वरुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कभी लोक, कभी जीवन, कभी सस्कृति, कभी विज्ञान या दर्शन या साहित्य-ग्रथो आदि से जुडता हुआ उनसे प्रेरणा और समर्थन प्राप्त करता हुआ तथा अपने निजत्व के सद्भाव से इन निबंधों को कथावत् सरस बनाता हुआ चलता है । उसका लोकमगलपरक जीवन-दर्शन और प्रकृति-प्रेम तो 'भाव और मनोविकार' शीर्षक पहले ही निबंध मे स्पष्ट हो जाता है । प्रतिपाद्य के पुष्ट आधार के लिए वह यदि व्यापक सामाजिक अनुभव का आश्रय ग्रहण करता है तो उसकी रोचकता और विश्वसनीयता के लिए वह इतिहास, पुराण आदि का सहारा भी लेता है ।

आचार्य शुक्ल का मनोभाव -विवेचन उनकी विशिष्ट 'नैतिक दृष्टि' का परिणाम है । यह दृष्टि बहुत व्यापक है । इसमे मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, राजनीति, साहित्यशास्त्र तथा जीवन के विविध क्षेत्रों का अनुभव समन्वित है ।'[1] ''उनका मनोविज्ञान, शुद्ध मनोविज्ञान नहीं है, जिसमे औचित्य की अवहेलना की जाती है । पर शुक्ल जी ने उसकी अवहेलना नहीं की । उनका मनोविकार-विवेचन लोक-संग्रह और सामाजिक उत्थान से सम्बद्ध है । उसमें क्षात्र-धर्म को विशेष महत्त्व दिया गया है । उनका मनोविज्ञान नीति-प्रधान मनोविज्ञान है ।''[2] उनके इन निबन्धो

" प्रोफेसर रामचद्र तिवारी

2 (अ) आचार्य गुलाब राय ,

(ब) डा॰ रामविलास शर्मा के अनुसार, ''शुक्ल जी ने हर मनोविकार का सामाजिक आधार बताया है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार से जोडा है, उसके सामाजिक परिणाम के हिसाब से उसे शुभ या अशुभ माना है . . उनके मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है । '' -- आचार्य रामचद्र शुक्ल और हिन्दी पृ॰ 215-216

मे राष्ट्रीय चेतना और देश-भक्ति के तत्त्व भी मिलते हैं ।

प्रस्तुत संदर्भ में कुछ ऐसे प्रसंगों और मुद्दों की चर्चा करना भी समीचीन होगा जिनको कोई मनोविज्ञानशास्त्री अपने विषय-विवेचन के क्रम में नहीं उठाता पर जिनको शुक्ल जी ने अपने विवेचन मे उठाया है और उस कारण से भी उनके ये निबन्ध मनोविकार विषयक होने के बावजूद मनोविज्ञानशास्त्रीय निबन्ध नहीं रह जाते ।

उदाहरण के लिए, आचार्य शुक्ल उत्साह की चर्चा के क्रम में उत्साह के अनेक स्वकल्पित भेद करते हैं और फिर युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, बुद्धिवीर, कर्मवीर आदि की बहुत सरस ढग से विशद चर्चा करते हैं ।[1] यह सब चर्चा उन्होने साहित्य-मीमासको की दृष्टि के संदर्भ मे की है, मनोविज्ञानशास्त्री की दृष्टि से नहीं । वे 'ओछे' लोगो और प्राचीन प्रथा के प्रति आस्थावान लोगो के उत्साह की तुलना करते हुए दोनो के उत्साह की सापेक्षिक मूल्यवत्ता का निर्धारण करते हैं,[2] और यह उनका अपना निजी निर्णय होता है । वे 'मैं' शैली का प्रयोग करते हुए 'छिछोरो और लम्पटो को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-चौड़े दास्तान सुनते हुए पाने' के शुद्ध स्वानुभव का उल्लेख करते हैं ।[3] विवेचन के क्रम मे वे 'हमारे विचार में' लिखकर अपने निजी विचार भी व्यक्त करते चलते हैं, यथा--"हमारे विचार मे उत्साही वीर का ध्यान आदि से अत तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता रूपी समाप्ति तक फैला रहता है ।"[4] वे नीति और मंगलपरक विश्व-दृष्टि से भाव विशेष की चर्चा करते हैं, यथा--जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वाछित है । यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है ।[5] अथवा 'सच पूछिये तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य समाज की स्थिति है ।'[6] इस बारे में रोचक यह है कि आचार्यप्रवर कहते तो यह हैं कि नीति विषयक चर्चा, 'नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं,'[7] पर नीति-चर्चा वे स्वयं बराबर करते हैं और नीति विषयक निर्देश भी बराबर देते चलते हैं ।

इन निबन्धो मे आचार्य शुक्ल भाव विशेष के लोकजीवन में प्रकट किए जाने के सामाजिक अधिकार की चर्चा करते हैं, यथा 'श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमें प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं ।'[8] शुक्ल जी अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार विषय के नाना सम्बन्ध-सूत्रों पर विचरण करते हुए

---

1 चितामणि 1, 'उत्साह' शीर्षक निबन्ध
2 वही, पृ॰ 8
3 वही, पृ॰ 8-9
4 वही, पृ॰ 10
5 वही, पृ॰ 17,18
6 वही, पृ॰ 17,18
7 वही, 1, पृ॰ 60
8 वही पृ॰ 31

चलने की स्वतत्रता लेते हैं । ये सम्बन्ध-सूत्र उनकी अपनी मान्यता के अनुसार 'पत्तो के भीतर की नसों के समान एक-दूसरे से नथे हुए' रहते हैं । उदाहरण के लिए, भक्ति की चर्चा के सदर्भ में वे क्रम-क्रम से परमात्मा, ईश्वर, ईश्वरत्व, धर्म, अवतार, राम-कृष्ण, रामलीला-कृष्णलीला, उपदेशक, कर्म-सौंदर्य, क्षात्र-धर्म, लोक धर्म आदि की बात उठाते हैऔर उनको अपनी संस्कृति एव परम्पराओं, अपने समाज और देश आदि से जोड़ते हुए चलते हैं ।[1] लोभ और प्रीति नामक मनोवृत्तियो के विवेचन में वे प्रेम-मार्ग का विवेचन भी करने लगते हैं । इस क्रम में वे प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार की और फिर फारसी-उर्दू शायरी एव भारतीय साहित्य के सदर्भपूर्वक प्रेम के विविध रूपों की चर्चा करते है । प्रेम-मार्ग का यह विवेचन खासा लम्बा चलता है । इस विवेचन को वे शास्त्रीय आधार पर नहीं अपितु साहित्यिक सदर्भ में स्वविवेक एव स्वानुभव के आधार पर प्रस्तुत करते हैं ।[2] इस प्रकार, इन निबंधों की रचना-प्रक्रिया मे मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार उनकी स्वच्छद गति देखने को मिलती है ।

इन निबंधो में वे फारसी-उर्दू साहित्य, यूरोपीय साहित्य, संस्कृत-बगला साहित्य तथा हिन्दी साहित्य की ससन्दर्भ एव सोदाहरण चर्चा करते चलते हैं । संस्कृत मे वे वाल्मीकि और भवभूति की, बगला मे बकिमचन्द्र की तथा हिन्दी मे मध्यकालीन कवियो, विशेषकर सूरदास, तुलसीदास, रहीम, रसखान, ठाकुर आदि की चर्चा करते हैं । उनकी यह चर्चा सरस और व्यक्तिपरक होती है ।

भाव विशेष के विवेचन मे वे बताते हैं कि ससार मे प्राणी के जीवन का उद्देश्य क्या है, कौन से कर्म उत्तम और शुभ है तथा अत करण की कौन-सी वृत्ति सात्विक है और क्यो ?[3] साहित्य और शास्त्र से भिन्न बोलचाल की भाषा में किसी वृत्ति विशेष से क्या 'भाव' समझा जाता है, इसकी चर्चा करते हैं ।[4] वे नियम और वृत्ति विशेष मे अतर बताते हैं--''मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना', 'बडो का कहना मानना' ये नियम के अंतर्गत हैं, शील या सद्भाव के अंतर्गत नहीं नियम, शील या सद्वृत्ति का साधक है ।[5] वे 'विश्वात्मा' का बार-बार उल्लेख करते हुए उसके विविध कार्यों की चर्चा करते हैं । यह उल्लेख उनकी आत्मवादी दृष्टि का भी संकेतक है ।[6] वे भाव विशेष के संदर्भ मे नीतिज्ञो, धार्मिकों और कवियों की दृष्टि एवं चेष्टा का सापेक्षिक मूल्यांकन करते हैं, यथा--''नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है । इस विषय

---

1 चितामणि 1, 'उत्साह' शीर्षक निबन्ध, पृ 40, 43
2 चितामणि 1 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध पृ 93, 94
3 चितामणि 1, पृ 46
4 वही पृ 47
5 वही, पृ 47-48
6 वही पृ 51 55

मे कवियो का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारो पर सान ही नहीं चढाते बल्कि उन्हे परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर जोर देते हैं ।''[1] द्विवेदीयुगीन रुझान के अनुसार वे स्थान-स्थान पर उपदेश देते हुए बढते हैं, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करते हुए चलते हैं, यथा--''लोकमर्यादा की दृष्टि से हमको इतनी सामर्थ्य सम्पादन करना चाहिए कि दूसरे अकारण हमारा अपमान करने का साहस न कर सके ।'' तथा 'प्राप्ति की जो इच्छा व्यसन के रूप में होती है उसका निरसन ही ठीक है ।' अथवा 'इस बात का ध्यान रखना समाज का कर्त्तव्य है कि धर्म और राजबल से प्रतिष्ठित सस्थाओ के अतर्गत अभिमानालय और खुशामदखाने न खुलने पाएँ ।'[2] वे ससार मे सुख-शाति की स्थापना और क्षात्र-धर्म की प्रतिष्ठा की कामना करते हैं ।[3] विशेष-विशेष स्थितियो मे व्यक्ति के विभिन्न आचरणों का सापेक्षिक मूल्यांकन करते हैं ।[4] उनके इन निबधो में द्विवेदीयुगीन सुधारवादी दृष्टि के संकेत भी मिलते हैं ।[5] राष्ट्रीय चेतना, जागरणकालीन संदर्भ तथा कर्म-प्रेरक उद्गार भी उनके इन निबंधों मे मिलते रहते हैं ।[6]

निष्कर्ष यह है कि आचार्य शुक्ल के इन मनोविकार विषयक निबन्धो को शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं कहा जा सकता । उनके ये निबन्ध मूलतः विषय-प्रधान साहित्यिक-सामाजिक निबन्ध हैं जिनमें विषय का स्वानुभूति, लोकानुभव, साहित्य और शास्त्रसम्मत विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । इनमें देश-काल, लेखक का इतिहास-बोध, मानवीय चेतना की जटिलता आदि की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है ।

विषय और बुद्धि-प्रधान श्रेष्ठ विचारात्मक निबन्धों के आदर्श के अनुसार आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध गभीर, अनुशासित, व्यवस्थित तथा तर्कपुष्ट विवेचन-विश्लेषण का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं । लेखकीय प्रतिभा, गहन विषय-विवेचन, शैलीगत सजीवता और पाठकीय प्रभाव चारो दृष्टियों से ये निबन्ध विचारात्मक गद्य के शिखर हैं । इनसे लेखक के गहन-बृहद अध्ययन, परम्परा के विशद ज्ञान, विपुल वैदुष्य, व्यापक जीवनानुभव, सघन लोक-निरीक्षण और उसकी सूक्ष्म अन्वेषण-क्षमता का पता चलता है । सिद्धहस्त कलाकार की भाँति वह इच्छानुसार नव-नव प्रासगिक उद्भावनाए करता हुआ और विवेचन को सजीव एव सुग्राह्य बनाता हुआ चलता है । वचन-भंगिमा की रोचकता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता, व्यग्य-विनोद की सरसता और विवेचन की सजीवता से पुष्ट उसके ये निबंध पाठक पर बहुत गहरा और विलक्षण प्रभाव डालते हैं ।

आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध विचारप्रसूत अर्थ-प्रधान, गद्य-विधान का आदर्श हैं जिनमे लेखक की व्यक्तिगत विशेषता का यथोचित, मर्यादित तथा अनिवार्य सन्निवेश हुआ है । शुक्ल

---

1 चिंतामणि 1, पृ॰ 53
2 वही, पृ॰ 64, 84, 115
3 वही, पृ॰ 74
4 वही, पृ॰ 84
5 वही पृ॰ 8 आदि
6 वही पृ॰ 8 आदि

जी की अपनी मान्यता के अनुसार इनमें विचार के लिए एक नियत विषय है (जो सयोग से गंभीर भी है)। इनमें विचारो की गूढ़-गुम्फित परम्परा मिलती है । गभीर विचार प्रत्येक पैरा में व्यवस्थित ढंग से गुम्फित किए गए है जिनको पढ़ते हुए पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड़ पडती है । उदाहरण के लिए, "एक-एक व्यक्ति के दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दु:खद रूप बराबर रहे हैं और बराबर रहेगे । किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था--एकाशाही से लेकर साम्यवाद तक इस दो-रगी झलक को दूर नहीं कर सकती । मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी"[1] अथवा "संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की संभावना बहुत बढ जाती है । प्राचीन काल में जिस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान मे हुई थी, उसने आगे चलकर योरप में बड़ा भयकर रूप धारण किया । अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद के साथ उसका सयोग हुआ और व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया । योरप के देश के देश इस धुन मे लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशो मे जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे ।"[2]

आप इन उद्धरणो में आचार्य शुक्ल के विचारों की सुव्यवस्थित बुनावट, एक सदर्भ से दूसरे संदर्भ पर संक्रमण तथा नये विचारोत्तेजन की इनकी क्षमता सहज ही लक्षित कर सकते हैं । विचारों की प्रस्तुति, विवेचन और योजना की यह शैली आचार्य शुक्ल की सामान्य शैली है जिसका उपयोग इन निबन्धो मे बराबर किया गया मिलता है । मूल विषय है भय, विवेचन-विश्लेषण हो रहा है मनोविकार विशेष 'भय' का, पर उसके संदर्भ में व्यक्ति-व्यक्ति की पारस्परिक स्थिति, फिर विशेष राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में उसकी परिणति, फिर मानवी प्रकृति की अनेकरूपता, फिर शेष प्रकृति और उसकी अनेकरूपता, फिर उन दोनो मे तारतम्य--इन सबका स्पर्श किया जाता है ।

इसी निबन्ध में अन्यत्र आचार्य शुक्ल भय की बात करते-करते 'संघ'[3] की चर्चा करने लगते हैं और पाठक का ध्यान 'भय' से हटकर संघ एव उसकी शक्ति की ओर चला जाता है । वह सोचने लगता है कि 'संघ' की शक्ति से शुभ और अशुभ दोनों की सभावना कैसे बढ़ जाती है । फिर उसकी यह जिज्ञासा होती है कि प्राचीन यूनान में किस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा हुई थी और क्यो तथा आगे चलकर यूरोप मे उसने किस प्रकार का भयकर रूप धारण किया और क्यों । उसका ध्यान इस पर जाता है कि अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद उत्पन्न हो जाया करता है । और वह सोचने लगता है कि ऐसा क्यो होता है । और जब अर्थोन्माद के साथ स्वदेश-प्रेम का संयोग होता है तो व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग कैसे हो जाता है ? ऐसे मे कला-कौशल, धर्म-दर्शन, साहित्य और विज्ञान आदि का क्या होता है ? क्या स्वदेश-प्रेम इनके माध्यम से व्यक्त नहीं होता ? क्या अर्थोन्माद कला-कौशल आदि को प्रभावित नहीं करता ? और

---

1 चिंतामणि 1, पृ० 128
2 वही, पृ० 129
3 वही पृ० 129

यूरोप के देश यदि दूसरे देशों का धन येन-केन-प्रकारेण खींचने की धुन में लग गए तो उनकी इस धुन ने क्या-क्या रूप धारण किये ? क्या स्वदेश-प्रेम की कोई भयावह अथवा विनाशकारी परिणति भी हो सकती है ? आदि-आदि नाना प्रकार के विचार पाठक की बुद्धि को उत्तेजित करके उसे नयी चितन-पद्धति पर दौडा देते है ।

इसमे लेखक का व्यापक अध्ययन और प्रकाण्ड पांडित्य भी व्यक्त होता है । वह देश-विदेश की सभ्यता-सस्कृति, इतिहास-अर्थशास्त्र, राजनीति-राष्ट्रनीति आदि के गहरे अध्येता और नाना-प्रभाव-गतियो के सूक्ष्म निरीक्षक के रूप मे सामने आता है । लेखक की निबन्ध-विषयक आधारभूत मान्यता के अनुसार विविध सम्बद्ध-सूत्रों पर विचरण करने की उसकी स्वतत्रता तो यहाँ व्यजित होती ही है । यह स्वतंत्रता उसके व्यक्तित्व के सन्निवेश का एक रूप है । इन निबंधों में व्यक्तित्व के सन्निवेश या लेखक की व्यक्तिगत विशेषता के सद्भाव का दूसरा रूप यह है कि लेखक विवेच्य विषय को अपनी रुचि-प्रवृत्ति और इच्छा के अनुसार अपने ढंग और अपनी विशिष्ट दृष्टि से देखता है ।

विषय के प्रति लेखकीय दृष्टि का वैशिष्ट्य निबन्ध की भाषा-शैली को भी तदनुसार विशिष्टता प्रदान करता है । निबन्ध के रूप-विधान का वैशिष्ट्य भी भाषा-शैली को मौलिक और महत्त्वपूर्ण बनाता है । विषय प्रधान-निबन्ध मे लेखकीय व्यक्तित्व का विशेष सद्भाव उसकी भाषा-शैली में ही लक्षित होता है, इसलिए वह मौलिक के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण भी होती है । सामान्यतया विषय-प्रधान, विचारात्मक निबन्धों की भाषा तत्सम शब्दावली बहुल, वैचारिक गभीरता से पुष्ट, अनुशासित और प्रौढ़ होती है । विषय की गंभीरता और पाठकीय ग्राह्यता की अपेक्षाओ के कारण इस प्रकार के निबन्धों मे सिद्धान्तत. समास और व्यास दोनो शैलियो का प्रयोग किया जाता है । आगमन और निगमन दोनो पद्धतियाँ भी अपनाई जाती हैं । शुक्ल जी के इन निबन्धों मे भी ये दोनो शैलियाँ और पद्धतियाँ प्रयुक्त मिलती है ।

इन निबन्धों में विचारों को प्रस्तुत करने और पाठको से उनको मनवा लेने की शैली विशेष महत्त्वपूर्ण है । विचारों की प्रस्तुति में शैलीगत सामासिकता इस प्रकार के निबधो मे आवश्यक होती है । उधर विचारों के सुगम बोध के लिए व्यास शैली उपयोगी होती है । जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, दो शब्दो को जोडना समास कहलाता है । यह शैली भाव सक्षेपीकरण के लाघव से युक्त सूत्रात्मक शैली होती है ।[1] आचार्य शुक्ल के इन निबधों मे विषय की प्रभावी एवं समग्र प्रस्तुति के निमित्त यह शैली अनेक रूपों में प्रयुक्त मिलती है । उदाहरण के लिए, विचार विशेष को सूत्ररूप मे सीधे-सीधे प्रस्तुत करना; यथा-- "कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं ।"[2] अथवा दो मनोविकारो मे भेद और तारतम्य प्रदर्शक सूत्र रूप में प्रस्तुत करना; यथा--"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण,"[3] या "वैर का आधार व्यक्तिगत होता है श्रद्धा का सार्वजनिक,"[4] या

1 देखिए, यही पुस्तक, पृ० 23
2 चितामणि 1, पृ० 18
3 वही, पृ० 18
4 वही, पृ० 99

जी की अपनी मान्यता के अनुसार इनमें विचार के लिए एक नियत विषय है (जो संयोग से गंभीर भी है)। इनमे विचारो की गूढ़-गुम्फित परम्परा मिलती है । गभीर विचार प्रत्येक पैरा में व्यवस्थित ढग से गुम्फित किए गए हैं जिनको पढते हुए पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड पडती है । उदाहरण के लिए, "एक-एक व्यक्ति के दूसरे-दूसरे व्यक्तियो के लिए सुखद और दुःखद रूप बराबर रहे है और बराबर रहेंगे । किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था--एकाशाही से लेकर साम्यवाद तक इस दो-रंगी झलक को दूर नहीं कर सकती । मानवी प्रकृति की अनेकरूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी"[1] अथवा "संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनो के प्रसार की संभावना बहुत बढ़ जाती है । प्राचीन काल मे जिस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान में हुई थी, उसने आगे चलकर योरप मे बड़ा भयकर रूप धारण किया । अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद के साथ उसका संयोग हुआ और व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अग हो गया । योरप के देश के देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहाँ तक धन खींचा जा सके, बराबर खींचा जाता रहे ।"[2]

आप इन उद्धरणों में आचार्य शुक्ल के विचारो की सुव्यवस्थित बुनावट, एक संदर्भ से दूसरे संदर्भ पर संक्रमण तथा नये विचारोत्तेजन की इनकी क्षमता सहज ही लक्षित कर सकते हैं । विचारों की प्रस्तुति, विवेचन और योजना की यह शैली आचार्य शुक्ल की सामान्य शैली है जिसका उपयोग इन निबन्धों मे बराबर किया गया मिलता है । मूल विषय है भय, विवेचन-विश्लेषण हो रहा है मनोविकार विशेष 'भय' का, पर उसके संदर्भ में व्यक्ति-व्यक्ति की पारस्परिक स्थिति, फिर विशेष राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओ मे उसकी परिणति, फिर मानवी प्रकृति की अनेकरूपता, फिर शेष प्रकृति और उसकी अनेकरूपता, फिर उन दोनो में तारतम्य--इन सबका स्पर्श किया जाता है ।

इसी निबन्ध में अन्यत्र आचार्य शुक्ल भय की बात करते-करते 'संघ'[3] की चर्चा करने लगते हैं और पाठक का ध्यान 'भय' से हटकर संघ एव उसकी शक्ति की ओर चला जाता है । वह सोचने लगता है कि 'संघ' की शक्ति से शुभ और अशुभ दोनो की संभावना कैसे बढ़ जाती है । फिर उसकी यह जिज्ञासा होती है कि प्राचीन यूनान में किस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा हुई थी और क्यो तथा आगे चलकर यूरोप में उसने किस प्रकार का भयंकर रूप धारण किया और क्यो । उसका ध्यान इस पर जाता है कि अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद उत्पन्न हो जाया करता है । और वह सोचने लगता है कि ऐसा क्यो होता है । और जब अर्थोन्माद के साथ स्वदेश-प्रेम का संयोग होता है तो व्यापार, राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अग कैसे हो जाता है ? ऐसे मे कला-कौशल, धर्म-दर्शन, साहित्य और विज्ञान आदि का क्या होता है ? क्या स्वदेश-प्रेम इनके माध्यम से व्यक्त नहीं होता ? क्या अर्थोन्माद कला-कौशल आदि को प्रभावित नहीं करता ? और

---

1 चिंतामणि 1 पृ० 128
2 वही, पृ० 129
3 वही पृ० 129

यूरोप के देश यदि दूसरे देशों का धन येन-केन-प्रकारेण खींचने की धुन मे लग गए तो उनकी इस धुन ने क्या-क्या रूप धारण किये ? क्या स्वदेश-प्रेम की कोई भयावह अथवा विनाशकारी परिणति भी हो सकती है ? आदि-आदि नाना प्रकार के विचार पाठक की बुद्धि को उत्तेजित करके उसे नयी चितन-पद्धति पर दौडा देते है ।

इससे लेखक का व्यापक अध्ययन और प्रकाण्ड पाडित्य भी व्यक्त होता है । वह देश-विदेश की सभ्यता-सस्कृति, इतिहास-अर्थशास्त्र, राजनीति-राष्ट्रनीति आदि के गहरे अध्येता और नाना-प्रभाव-गतियो के सूक्ष्म निरीक्षक के रूप में सामने आता है । लेखक की निबन्ध-विषयक आधारभूत मान्यता के अनुसार विविध सम्बद्ध-सूत्रो पर विचरण-करने की-उसकी स्वतंत्रता तो यहाँ व्यंजित होती ही है । यह स्वतंत्रता उसके व्यक्तित्व के सन्निवेश का एक रूप है । इन निबंधो में व्यक्तित्व के सन्निवेश या लेखक की व्यक्तिगत विशेषता के सद्भाव का दूसरा रूप यह है कि लेखक विवेच्य विषय को अपनी रुचि-प्रवृत्ति और इच्छा के अनुसार अपने ढंग और अपनी विशिष्ट दृष्टि से देखता है ।

विषय के प्रति लेखकीय दृष्टि का वैशिष्ट्य निबन्ध की भाषा-शैली को भी तदनुसार विशिष्टता प्रदान करता है । निबन्ध के रूप-विधान का वैशिष्ट्य भी भाषा-शैली को मौलिक और महत्त्वपूर्ण बनाता है । विषय प्रधान-निबन्ध में लेखकीय व्यक्तित्व का विशेष सद्भाव उसकी भाषा-शैली में ही लक्षित होता है, इसलिए वह मौलिक के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण भी होती है । सामान्यतया विषय-प्रधान, विचारात्मक निबन्धों की भाषा तत्सम शब्दावली बहुल, वैचारिक गंभीरता से पुष्ट, अनुशासित और प्रौढ़ होती है । विषय की गभीरता और पाठकीय ग्राह्यता की अपेक्षाओ के कारण इस प्रकार के निबन्धों मे सिद्धान्ततः समास और व्यास दोनो शैलियो का प्रयोग किया जाता है । आगमन और निगमन दोनो पद्धतियॉ भी अपनाई जाती हैं । शुक्ल जी के इन निबन्धों में भी ये दोनों शैलियाँ और पद्धतियाँ प्रयुक्त मिलती हैं ।

इन निबन्धो में विचारों को प्रस्तुत करने और पाठकों से उनको मनवा लेने की शैली विशेष महत्त्वपूर्ण है । विचारो की प्रस्तुति में शैलीगत सामासिकता इस प्रकार के निबंधो मे आवश्यक होती है । उधर विचारों के सुगम बोध के लिए व्यास शैली उपयोगी होती है । जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, दो शब्दो को जोड़ना समास कहलाता है । यह शैली भाव संक्षेपीकरण के लाघव से युक्त सूत्रात्मक शैली होती है ।[1] आचार्य शुक्ल के इन निबंधो में विषय की प्रभावी एवं समग्र प्रस्तुति के निमित्त यह शैली अनेक रूपों में प्रयुक्त मिलती है । उदाहरण के लिए, विचार विशेष को सूत्ररूप में सीधे-सीधे प्रस्तुत करना, यथा-- "कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं ।"[2] अथवा दो मनोविकारों मे भेद और तारतम्य प्रदर्शक सूत्र रूप मे प्रस्तुत करना; यथा--"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण,"[3] या "वैर का आधार व्यक्तिगत होता है श्रद्धा का सार्वजनिक,"[4] या

1 देखिए, यही पुस्तक, पृ॰ 23
2 चिंतामणि 1, पृ॰ 18
3 वही, पृ॰ 18
4 वही, पृ॰ 99

"घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का ।"[1] कहीं यह शैली विचारो की 'सूक्ति' के रूप मे प्रस्तुति में लक्षित की जा सकती है, यथा--"लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता ।"[2] आचार्य शुक्ल की अतिप्रसिद्ध सूत्रात्मक परिभाषाओं मे भी सामासिक शैली ही प्रयुक्त मिलती है, यथा--"भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है"[3] अथवा "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है ।"[4] वास्तव मे सूत्र-वाक्य, सूत्रात्मक परिभाषाएँ आदि शुक्ल जी की शैली की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एव आकर्षक विशेषता हैं ।

आचार्य शुक्ल द्वारा समास शैली का यह अनेकविध प्रयोग, भाव या विचार विशेष को गहरे स्तर पर आत्मसात् करते हुए उसे सक्षिप्त, सुसम्बद्ध, समर्थ सूत्र मे ढालकर प्रस्तुत करना निश्चय ही उनकी भावयित्री प्रतिभा और अभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता का परिचायक है । ये सूत्र उनकी लेखन-शैली की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशिष्ट और आकर्षक पहचान बन जाते है । इन सूत्रों की निर्मिति की पृष्ठभूमि मे निहित लेखक का व्यापक जीवनानुभव, विशद लोक-निरीक्षण, साहित्य का गहन अध्ययन और दृढ आत्मविश्वास इनको बहुत प्रभावशाली बना देता है ।

इन निबंधों में समास शैली आगमन और निगमन पद्धतियों से समन्वित होकर भी आती है । आचार्य शुक्ल तर्कशास्त्र के अच्छे पंडित थे, यह उनके निबन्धों से स्पष्ट है । वे यह समझते थे कि क्रमरहित तर्क और तर्करहित क्रम शिथिल होता है । अतएव वे अपने निबधो मे भाव और विचारों की प्रस्तुति में क्रम और तर्कबद्धता का पूरा ध्यान रखते हैं । कभी वे विषय को विस्तार से प्रस्तुत करके उसका संक्षेप या सारांश बता देते हैं--यह आगमन पद्धति होती है; और कभी वे साराश पहले प्रस्तुत करके बाद में विचार की व्याख्या कर देते हैं--यह निगमन पद्धति है । इस प्रकार, ये दोनों पद्धतियाँ उनके निबंधों में प्रयुक्त मिलती हैं ।

बौद्धिक आधारपूर्वक तर्कपुष्ट एव निर्भीक रूप मे विचारों को प्रस्तुत करने का एक विशिष्ट लाभ यह होता है कि पाठक उनको अस्वीकार करने अथवा उनका खण्डन करने का दुस्साहस नहीं कर पाता, ऐसा करने मे उसको डर-सा लगता है । उसके पास शुक्ल जी के विचारों को समर्पण भाव से स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता ।

शुक्ल जी के व्यक्तित्व का एक विशिष्ट गुण यह है कि प्रकृति से गंभीर होने के बावजूद भी वे विनोदप्रिय थे । स्वस्थ-शिष्ट विनोदशीलता और जिंदादिली उनके स्वभाव का सहज अंग थी । उनके निबंधो में इसकी बड़ी प्रीतिकर छटा मिलती है । यद्यपि हास्य और उपहास

---

1 चिंतामणि 1 पृ॰ 99

2 वही पृ॰ 85

3 वही, पृ॰ 5

4 वही, पृ॰ 138

उनकी वृत्ति नहीं थी तथापि विनोदशीलता के साथ इनका भी बहुत रचनात्मक उपयोग उनके इन निबंधो में किया गया मिलता है । विषय की गंभीरता, लेखक के वैदुष्य और विवेचन के पांडित्य के कारण इस प्रकार के निबधो के शुष्क ओर अरुचिकर हो जाने की आशका रहती है । पर शुक्ल जी अनेक युक्तियो एवं उपकरणो का रचनात्मक एवं सार्थक प्रयोग करके इस प्रकार की आशंका के निराकरण में तो समर्थ हुए ही हैं, उनके लेखन मे रोचकता और लालित्द का सद्भाव भी हो गया है ।

युक्तियों में व्यंग्य-विनोद, विनोदपूर्ण हास्य, चुटकी, छेड़-छाड, कटाक्ष, व्यक्तिगत जीवन के रोचक प्रसंग और संस्मरण आदि तथा साधनो में कथात्मक रोचक उदाहरण अथवा दृष्टात, शिष्ट और लोक साहित्य के मार्मिक प्रसंग, काव्य के उद्धरण आदि उल्लेखनीय हैं । विनोदपूर्ण हास्य का एक अच्छा उदाहरण है--"सगीत के पेच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता हे । जिस समय कोई कलावंत पक्का गाना गाने के लिए आठ अगुल मुँह फैलाता है और, 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बडे-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है--दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बडे-बडे आलसियो का आसन डिग जाता है ।"[1] व्यग्य और भर्त्सना के उदाहरणों में क्रमशः लखनवी दोस्त की महुआ विषयक टिप्पणी-प्रसंग[2] और अनाथ विधवा विषयक प्रसग[3] का उल्लेख किया जा सकता है । कथात्मक रोचक उदाहरणो अथवा दृष्टांतों में ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए व्यक्ति के[4] अथवा गुरुजी और दण्डधारी के[5] अथवा काजी और स्त्रियों[6] वाले सदर्भों का उल्लेख किया जा सकता है । देश-प्रेमियो अथवा लोभियों वाले प्रसंग व्यग्यमय छेड़-छाड़ के अच्छे उदाहरण हैं ।

प्रस्तुत संदर्भ मे डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है कि "आचार्य शुक्ल का 'लक्ष्य विकच हास्य नहीं, विकल व्यग्य होता है, जो अपने उद्देश्य तक पैने तीर की तरह पहुँचे बिना नहीं रुकता ।"[7] इसमे संदेह नहीं कि शुक्ल जी का व्यंग्य-बाण अमोघ है और इनका हास्य व्यंजक एव सघन प्रभावी है पर यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि उनका लक्ष्य 'विकच' हास्य नहीं, 'विकल' व्यंग्य होता है । यहाँ 'विकच' और 'विकल' शब्दों की अनेक अर्थ-छटाएँ प्रासंगिक हो सकती हैं, तथा 'विकच' का अर्थ 'बिल्कुल स्पष्ट', 'व्यक्त,' 'खुला हुआ', 'उघरा हुआ' आदि तथा 'विकल' का अर्थ 'ढँका-मुँदा', 'अपूर्ण', 'खंडित,' 'म्लान' आदि हो सकता है । आचार्य शुक्ल के निबधों को देखकर यह कहना संभवतः अधिक उपयुक्त होगा कि यदि एक ओर उनका हास्य उल्लिखित सभी अर्थो में 'विकच' है तो दूसरी ओर उनका व्यंग्य 'विकल' नहीं है । उनका हास्य प्रायः

---

1 चिंतामणि 1, पृ० 24-25
2 वही, पृ० 78-79
3 वही, पृ० 84
4 वही, पृ० 13
5 वही, पृ० 64
6 वही, पृ० 81-82
7 आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, सपादक · गुलाब राय, विजयेन्द्र स्नातक, पृ० 139

स्पष्ट और खुला हुआ है, यथा--मोटे आदमियों ! तुम जरा-सा दुबले हो जाते--अपने अंदेशे से ही सही--तो न जाने कितनी ठठरियों पर मास चढ़ जाता।"[1] या संगति के पंच-पाँच वाला प्रसग।[2] जहाँ तक व्यग्य का सम्बन्ध है, "मैंने कई छिछोरों और लम्पटो को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के लम्बे-चौड़े दास्तान हर-दम सुनते-सुनाते पाया है।"[3] अथवा "लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है।"[4] से अधिक सीधा, स्पष्ट, सुव्यक्त और मुखर व्यंग्य और क्या होगा ! आचार्य शुक्ल के व्यंग्य कहीं-कहीं तो उपहास की सीमा में प्रवेश कर जाते है, यथा--"जो यह भी नही जानते कि कोयल किस चिडिया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है जो यह भी नहीं झाँक्ते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस-बीस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी की परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि "भाइयो ! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हे तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसो दूर बैठे-बैठे, पडे-पडे या खडे-खडे तुम विलायती बोली मे अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।"[5]

यह लम्बा उद्धरण उपहासमय व्यंग्य का रचनात्मक उपयोग दर्शाने के लिए किया गया है। यहाँ मनुष्य विशेष के ज्ञान एवं स्वभाव की निषेधात्मक विशेषताओ के आवृत्तिमय उल्लेख, असगति और विभावना अलंकारो तथा काकु आदि के माध्यम से विचार की प्रभावी अभिव्यक्ति की गई है।

कहीं-कहीं व्यंग्य एक विशिष्ट भावुकतापूर्ण शैली मे व्यक्त होता है। इसके अंतर्गत भावुकता एक ऊँचाई पर चटककर काकुमय व्यंग्य और धिक्कार मे परिणत हो जाती हैं, यथा--"लोभियों ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय हे। तुम्हारी निष्ठा, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !!" (चिंतामणि 1, पृ॰ 85)

तात्पर्य यह है कि यह नहीं माना जा सकता कि शुक्ल जी का व्यग्य विकल है या हास्य विकच नहीं है। इसके विपरीत, उनका व्यंग्य और हास्य प्रायः सजीव, सुव्यक्त, मुखर और खुला हुआ है। बल्कि डॉ॰ रामविलास शर्मा का मत तो यह है कि "कही-कही उनका व्यग्य क्रोधाग्नि में तपे हुए तीर की तरह होता है।" लोभियों के लिए वे कहते है, "न

---

1 चिंतामणि, 1/77
2 वही, पृ॰ 24-25
3 वही, पृ॰ 8
4 वही, पृ॰ 85
5 वही, पृ॰ 76-77

उन्हे मक्खी चूसने मे घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया ।'' ऐसा तीखा व्यग्य या तो प्रेमचद में मिलता हे या निराला में ।''[1]

परन्तु सामान्यतया शुक्ल जी का व्यंग्य और परिहास कटु, आघातकारक अथवा अशिष्ट नहीं होने पाता बल्कि मृदुल, सयमित, मर्यादित और शिष्ट बना रहता है । अक्सर उनका व्यग्य विनोद के लिए होता है तथा वह पाठक को निश्चय ही प्रभावित करता है । एक आलोचक के अनुसार आचार्य शुक्ल के निबधो की रचनात्मकता उनके स्वानुभूत प्रमगो, व्यंग्य-विनोद और उनकी छेड-छाड मे ही निहित है ।[2]

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, इन निबन्धो की भाषा गंभीर, विचार-प्रधान, बौद्धिक निबन्धों के उपयुक्त प्रौढ, संस्कृत तत्सम शब्द-बहुल, समासमयी और प्रांजल है । विषय की गभीरता और विवेचन के पाण्डित्य के कारण वह कुछ कठिन एवं सश्लिष्ट अवश्य हो जाती है तथा ग्राह्यता के निमित्त व्युत्पन्न पाठक की अपेक्षा करती है,[3] पर वह दुरूह, दुर्बोध अथवा शब्दाडम्बर मात्र कहीं नही होने पाती । यह भाषा शुक्ल जी के समकालीन किसी भी दूसरे निबंधकार मे नही मिलती और गभीर वैचारिक नूतन शक्ति चमत्कारयुक्त गद्य-भाषा का आदर्श प्रस्तुत करती है । इन निबंधो में उस समय सामान्य बोलचाल मे प्रयुक्त उर्दू शब्दावली मिश्रित व्यावहारिक एवं सहज प्रवाही भाषा भी अनेक स्थानों पर प्रयुक्त मिलती है । वार्त्तालाप शैली में सामान्य घरेलू बातचीत की सहज-सरल सुपरिचित भाषा भी इन निबन्धों मे अनेक स्थानों पर प्रयुक्त मिलती है; यथा--''मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दी और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा . ।''[4] अथवा ''एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था । एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं, इतना लो तो लें . . ।''[5]

जहाँ तक शैलियों का प्रश्न है, ऊपर जिन शैलियो की चर्चा की जा चुकी है, उनके अतिरिक्त विचारों की तर्कपूर्ण गूढ़-गुंफित शैली, विषय-प्रतिपादन शैली, व्याख्यात्मक शैली, वार्त्तालाप शैली, दृष्टांत शैली, व्यंग्य-विनोद-परिहासपूर्ण शैली आदि शैली के कई और रूप भी इन निबन्धों मे प्रयुक्त मिलते हैं । परन्तु विशेष उल्लेख्य वह ललित-सरस, व्यक्तित्व व्यजक शैली है जो वैचारिक गाभीर्य के शुष्क-धूसर बीहड़ो के बीच सरस-हरित द्वीपवत् प्रकट होकर प्रीतिकर एवं आनन्दप्रदायी होती है, यथा--''यदि देश-प्रेम के लिए हृदय मे जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ । बाहर निकलो

---

1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 225

2 डॉ० बच्चन सिंह

3 चिंतामणि 1, पृ० 18 (कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक)

4 वही, पृ० 13

5 वही, पृ० 28

तो आँखे खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं . , टेमू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है अमराइयों के बीच मे गाँव झाँक रहे हैं उनमे घुसो, देखो तो क्या हो रहा है । जो मिले उनसे दो-दो बाते करो; उनके साथ किसी पेड की छाया के नीचे घड़ी-आध घडी बैठ जाओ और समझो कि वे सब हमारे हे । इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखो मे समा जायगा, तुम उसके अग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंत.करण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे; वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो उसके सब प्राणी सुखी रहे ।''[1] अथवा--

''जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान शक्ति-केन्द्र का उदय होता है उस समाज मे भिन्न-भिन्न हृदयो से शुभ-भावनाएँ मेघ-खण्डों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती है कि उनकी घटा-सी उमड पडती है और मगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते है ।''[2]

ये उद्धरण आचार्य शुक्ल के स्वदेश-प्रेम के अतिरिक्त उनके प्रकृति-प्रेम के भी परिचायक हैं । ऐसे ही स्थलो पर 'शैली ही व्यक्ति है' की उक्ति चरितार्थ होती है ।

मनोभाव-विवेचन के क्रम मे आचार्य शुक्ल कभी-कभी अचानक भावावेगमयी ललित भाषा का प्रयोग करने लगते है, पर तीन ही चार वाक्यो के बाद वे संयमित भाषा पर प्रत्यावर्तन कर जाते हैं, यथा ''युद्ध के अतिरिक्त ससार मे और भी ऐसे विकट काम हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है . । अनुसन्धान के लिए तुषारमण्डित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर-बर्बर जातियो के बीच अज्ञात घोर जंगलो मे प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं । इनमे जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है ।''[3]

इन निबधो मे स्थान-स्थान पर भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है जिससे भाषा मे नूतन शक्ति का चमत्कार उत्पन्न होता है । यह सर्जनात्मकता लाक्षणिकता, अमूर्त्त भावो के मूर्त्तन, बिंब-विधान द्वन्द्वात्मकता, मुहावरे, कहावतो, लोकोक्तियों के सद्भाव आदि अनेक कारणो से तथा अनेक रूपो मे लक्षित की जा सकती है । उदाहरण के लिए, ''क्रोध सब मनोविकारो मे फुर्तीला है, इसी से अवसर पडने पर यह और दूसरे मनोविकारो का भी साथ देकर उनकी तृप्ति का साधक होता है । कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के साथ ।''[4] अथवा ''ईर्ष्या अत्यंत लज्जावती वृत्ति है । वह अपने धारणकर्त्ता स्वामी

---

1 चिन्तामणि 1, पृ॰ 78

2 वही, पृ॰ 18

3 वही, पृ॰ 7

4 वही पृ॰ 135

के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती ।"[1] --अमूर्त्त भावों के मूर्त्तन के अच्छे उदाहरण हैं । इसी प्रकार, "वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है"[2] --शैली की लाक्षणिकता और बिंब-विधान का अच्छा उदाहरण है । "यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है ।"[3] जैसे वाक्य द्वन्द्वात्मक शैली के अच्छे उदाहरण हैं । "लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए . . । आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं. . ।"[4] अथवा "मेरे मुँह से निकला--महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है ।"[5] आदि लाक्षणिक शैली के उदाहरण हैं ।

इनके अतिरिक्त, पुनरावृत्तिपरक और अनुप्रासमयी शैली आचार्य शुक्ल के इन निबंधो का वैशिष्ट्य है; यथा--"पर जबकि इस व्यापार युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है--तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यो न बिकें ?"[6] अथवा--"उसके हृदय में जो सौंदर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है उसे वह अत्यन्त पूर्ण रूप में परमात्मा में देखता है. . . ।"[7] यह है पुनरावृत्तिपरक शैली । और--"हम हैं, हम समझते हैं कि हम है और हम चाहते है कि हम रहे, ऐसी अवस्था में हम अपने स्थिति-रक्षा सम्बन्धी भावों को परमावस्था पर पहुँचा कर ही उन परम-भावमय की भावना करेंगे । हम उसे धर्ममय, दयामय, प्रेममय मानेगे ।"[8] यह है अनुप्रासमय शैली ।

आचार्य शुक्ल की मुहावरा-प्रधान शैली भी बडी ही विशिष्ट और लाजवाब है--"यदि सबकी धड़क एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँह से बड़ी-बडी बातें निकलने लगे, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइशे करने लगें, उँगली का सहारा पाने वाले बाँह पकड़ कर खींचने लगें, दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे-गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढते हैं वे ढकेलने के लिए बढने लगें . ।"[9]

कहीं सस्कृत सूक्ति और हिन्दी लोकोक्ति एक साथ एक ही वाक्य में प्रयुक्त मिलती हैं, यथा--"अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूँढता है तो नहीं पाता है--कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त चलता दिखाई पडता है, कहीं लाठी और भैंस का ।"[10]

---

1 चिंतामणि 1 पृ० 123
2 वही पृ० 138
3 वही, पृ० 36
4 वही, पृ० 73, 78
5 वही, पृ० 73, 78
6 वही, पृ० 30
7 वही, पृ० 40
8 वही, पृ० 39
9 वही, पृ० 65
10 वही पृ० 38

तात्पर्य यह है कि क्रम, संगति, शब्द-चयन, पद-योजना, अन्विति, वाक्य-रचना, लाक्षणिकता, बिंब-प्रतीक, मुहावरा-कहावते, लोकोक्ति-प्रयोग आदि सभी दृष्टियों से उनकी शैली एक आदर्श रूप प्रस्तुत करती है । इनमे शुक्ल जी एक समर्थ, शीर्षस्थ शैलीकार के रूप में उपस्थित होते हैं ।

इन निबन्धों में प्रयुक्त शब्दकोश में सस्कृत की तत्सम-तद्भव शब्दावली मुख्य है । इसके अतिरिक्त, कुछ शब्द प्रांतीय और देशज तथा कुछ अरबी-फारसी के भी हैं । अंग्रेजी के शब्द बहुत ही कम, शायद कुल एक या दो 'फैशन' आदि ही प्रयुक्त हुए हैं ।

इस प्रकार, आचार्य शुक्ल के ये निबन्ध विषय-गरिमा, वैचारिक गाम्भीर्य, निर्भ्रांत बौद्धिक घनत्व, वैदुष्यपूर्ण अनुशासन लेखकीय व्यक्तित्व की मर्यादित भावमय सरस व्यंजना, प्रौढ शैली और भाषा में नूतन शक्ति के चमत्कार जैसी अनेक विशिष्टताओ से सवलित होकर विषय-प्रधान निबंधों का अनूठा मानदंड प्रस्तुत करते हैं ।

❑❑❑

निबन्ध के विकास में आचार्य शुक्ल का योगदान
एवं
निबन्ध के क्षेत्र में उनका स्थान
(मनोविकार विषयक निबन्धों के संदर्भ में)

प्रस्तुत संदर्भ में शुक्ल जी का योगदान इन दिशाओ में विशेष स्पष्ट है--

(1) निबन्ध-विधा को पुष्ट-बौद्धिक आधार प्रदान करके उसे वैचारिक अभिव्यक्ति के शक्तिशाली माध्यम के रूप में विकसित किया । इस विधा के माध्यम से हिन्दी भाषा को भी चिंतनपरक बनाया ।

(2) निबन्ध को मूलत. अर्थ-प्रधान गद्य-विधा मानकर उसे बोद्धिक घनत्व, वैचारिक गाभीर्य, वैज्ञानिक. तार्किक पद्धति और वेदुष्यपूर्ण अनुशासन तथा सुनिश्चित व्यक्तित्व प्रदान किया ।

(3) बुद्धि के साथ ह्रदय तत्त्व के सहभाव को निबन्ध-रचना की अनिवार्य शर्त माना । उन्होंने लिखा कि, ''निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक ह्रदय दोनो साथ लिये हुए ।''

(4) निबन्ध में भावात्मक ह्रदय-पक्ष के अनिवार्य सद्भाव के रूप में उन्होने निबध में लेखकीय व्यक्तित्व, लेखक के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के सद्भाव की भी अनिवार्यता स्वीकार की । परन्तु प्रधानता बुद्धि-पक्ष और वैचारिकता को ही दी ।

इस प्रकार. निबन्ध मे वस्तु-तत्त्व के साथ-साथ आत्म-तत्त्व का सहभाव भी स्वीकार किया । अर्थात् भारतीय दृष्टि के साथ पाश्चात्य दृष्टि का भी समन्वय किया पर सीमित रूप में ।

(5) 'व्यक्तिगत विशेषता' के अंतर्गत भाषा-शैली और अभिव्यंजना-प्रणाली की विशेष्ता के साथ अर्थसम्बन्धी विशेषता का अनिवार्य समावेश किया, और इस प्रकार निबंध के संतुलित, मौलिक 'प्रकृत' स्वरूप का विकास किया ।

(6) निबन्ध के इस स्वकल्पित प्रकृत स्वरूप को आचार्य शुक्ल ने अपनी सूक्ष्म अन्वेषण क्षमता, अपने चिंतन-मनन, निजी जीवन-स्पन्दन, सामाजिक एवं लोकगत वेदना तथा साहित्यिक संदर्भों से संवलित करके विकसित किया है ।

फलस्वरूप उनके ये निबंध एक विशिष्ट प्रीतिकर रचनात्मकता मे ढलकर साहित्य-जगत् के समक्ष पहली बार वैचारिक-साहित्यिक मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत होते हैं और पाठक को सीधे प्रभावित करते हैं ।

(7) आचार्य शुक्ल ने हिन्दी मे पहली बार 'सूक्ष्म विचार दृष्टि' से सम्पन्न ऐसे निबधो का प्रणयन किया जिनमे नाना अर्थ का वैचित्र्य और गतिशील अर्थ की परम्परा

के साथ-साथ भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार तथा नये-नये विचारों की उद्भावन-क्षमता भी मिलती है ।

(8) आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार अपने इन निबन्धों को तत्सम प्रधान, सटीक शब्दावली के युक्त समर्थ भाषा तथा अतिप्रौढ़ एवं अत्यन्त परिपक्व गरिमामय अनुशासित शैली प्रदान की और इसके माध्यम से वे हिन्दी के एक मूर्धन्य शैलीकार बने ।

(9) आचार्य शुक्ल के ये मनोविकार विषयक निबन्ध विषय की गंभीरता, विवेचन की सूक्ष्मता-गहनता, चिंतन-मनन की सघनता, शैली की सूत्रात्मकता एवं मार्मिकता तथा वस्तु और रूप के अद्‌भुत सामजस्य के कारण हिन्दी गद्य एव निबंध साहित्य तथा हिन्दी भाषा की गौरवपूर्ण सम्पत्ति हैं ।

जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है[1] आचार्य शुक्ल अपने समय तक के निबन्ध-लेखन के स्तर से बहुत असंतुष्ट और चिंतित थे । भारतेन्दुयुगीन पहले दौर के निबध तो उपदेश संवाद, उद्‌बोधन आदि के हलके-फुलके, सरस व्यक्तिपरक माध्यम मात्र थे । उनमें बौद्धिकता, गभीर चिंतनपरकता का अभाव था और वह अनपेक्षित भी थी । इसके अलावा, बालकृष्ण भट्ट जैसे बहुकृतिक लेखक ने भी अपने निबंधों में 'ठीक खड़ी-बोली के आदर्श का निर्वाह' नहीं किया था । उनमे 'पूरबी' प्रयोग बराबर मिलते हैं । स्थान-स्थान पर ब्रैकेटो से घिरे अग्रेजी शब्द, फ़ारसी-अरबी के लफ्ज ही नहीं बडे-बड़े फिकरे तक उनके निबधों में मिलते है ।[2]

दूसरे उत्थान (1893-1918) में भी भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करने वाले गूढ़-गभीर लेखक तैयार नहीं हो पाये । अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' बनकर ही रह गए । महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेख विचारात्मक होते हुए भी सूक्ष्म विचार दृष्टि से नहीं लिखे गए । विचारो की वह गूढ़-गुफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड पड़े । इस समय उच्चकोटि के गद्य-साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ । अधिकांश लेखक ऐसे ही कामो मे लगे रहे जिनमें बुद्धि को श्रम कम पड़े । फलतः ऊँची विश्वविद्यालयीय हिन्दी शिक्षा के लिए उच्चकोटि की गद्य-पुस्तकों का व्यापक अभाव देखा गया । स्थायी विषयों पर निबंध लिखने की परम्परा भी बहुत जल्दी बद हो गई । साथ ही, वर्णनात्मक निबंध-पद्धति पर सामयिक घटनाओं, देश और समाज की जीवनचर्या, ऋतुचर्या आदि का चित्रण भी बहुत कम हो गया ।[3]

इस समय के अन्य गद्य-लेखको मे एक थे माधव प्रसाद मिश्र । इनके अधिकतर निबध भावात्मक होते थे, उनमें विचारतत्त्व की क्षीणता रहती थी । बाबू गोपाल राम गहमरी के निबंधों की विशेषता थी 'विलक्षण रूप खडा करना' । वे ऐसे विलक्षण और कुतूहलजनक चित्रों के बीच से पाठक को ले चलते थे कि उसे एक तमाशा देखने का सा आनन्द आता था ।" बालमुकुन्द गुप्त का दायरा बहुत सीमित था तथा उनका गद्य छेड़छाड़, चुहलबाजी

---

1 देखिए, प्रस्तुत पुस्तक, पृ॰ 37, 38

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 428

3 वही पृ॰ 7

और विनोद से सराबोर रहा करता था । पंडित गोविन्द नारायण मिश्र का गद्य विचारों को उत्तेजना देने वाला और भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाला गद्य नहीं था । श्याम सुदर दास ने अधिकतर पाठ्य-पुस्तक लेखन का कार्य किया । उसके लिए उनकी सरल-सुबोध शैली बहुत उपयुक्त एवं प्रसिद्ध भी है । गंभीर वैचारिक लेखन न उन्होंने किया और न उसके लिए उनकी वह शैली उपयुक्त थी । गुलेरी जी निश्चय ही एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर उतरे थे । उनके निबंधों में अर्थगर्भित वक्रता और गंभीर, पांडित्यपूर्ण स्मित हास का अदभुत सामरस्य था ।[1]

पर गुलेरीजी में सूक्ष्म अन्वेषण-विश्लेषण क्षमता, गहन चिंतन-मनन शक्ति, प्रौढ़ तर्कपुष्ट वैज्ञानिक शैली, सामाजिक सजीवता आदि जैसी विशेषताएँ नहीं मिलतीं । अध्यापक पूर्णसिंह अपनी लेखन शैली की लाक्षणिकता तथा विचारो और भावों के अनूठे मेल के लिए प्रसिद्ध हैं । पर एक तो उनका दायरा आध्यात्मिकता तक ही सीमित था, दूसरे उनके निबंध मूलतः भावात्मक हैं जिनमे विचार-तत्त्व स्वल्प और क्षीण हैं ।[2]

गद्य साहित्य की इस चिन्त्य स्थिति को देखते हुए शुक्ल जी ने बहुत क्षुब्ध होकर टिप्पणी की--"खेद है कि समास शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखने वाले जिनमे बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा कसी हो, अधिक लेखक नहीं मिले ।'[3]

निबंध-लेखन की जो स्थिति द्वितीय उत्थान में दिखाई पड़ी प्रायः वही आगे 1918-1940 के बीच भी बनी रही और इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई । उच्च शिक्षा क्रम के लिए उत्कृष्ट कोटि के निबंधों की "जितनी ही अधिक आवश्यकता थी उतने ही कम वे सामने आ रहे थे ।"[4]

इसलिए उन्होंने अपने प्रयोजनों एवं अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं ही इस दिशा मे सक्रिय होने का संकल्प किया और ऐसे 'उत्कृष्ट कोटि के निबंधो की रचना की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठको को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े . जिनमे अर्थवैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास लक्षित हो सके ।"

निबन्ध-लेखन के क्षेत्र मे यह उनका विशिष्ट योगदान है ।

आचार्य शुक्ल ने निबन्ध के जो आदर्श और प्रतिमान निर्धारित किए उन पर सामान्य प्रकार का निबंध-लेखन खरा नहीं उतर सकता था । अभिनव विचारोन्मेष में समर्थ अर्थ की गूढ़ गुंफित कसावटभरी परम्परा, चुस्त भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार, हृदय की अच्छी झलक और शैली की असाधारणता जैसे उत्कृष्ट तत्त्व उनके समकालीन किसी भी निबन्ध-लेखक मे नहीं मिलते--यह देखा ही जा चुका है । इसलिए उनके निबंध अपने

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 469-477

2 आचार्य शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ॰ 476 से 481 तक

3 वही, पृ॰ 482

4 वही पृ॰ 513

प्रतिमान स्वयं हैं । इस दृष्टि से समकालीन निबंधकारों मे उनका विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है । वे निबंध को गद्य की कसौटी मानते हैं क्योकि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंध में ही सबसे अधिक संभव होता है: अभिनव विचारोन्मेष में समर्थ अर्थ की गूढ़-गुंफित कसावटभरी परम्परा के अनुरूप चुस्त भाषा की शक्ति का चमत्कार निबंध मे ही लक्षित होता है । उनके निबंध इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

आचार्य शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निबन्ध उनके शुद्ध और सर्वोत्तम निबंध हैं । उनके ये निबंध मनोभाव विषयक निबंध-परम्परा की अद्वितीय उपलब्धि हैं । आचार्य शुक्ल के जीवनी लेखक चंद्रशेखर शुक्ल के अनुसार, 'दार्शनिकता में सरसता' इन निबंधों की अन्यत्र दुर्लभ विशेषता है ।[1]

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है,[2] हिन्दी में मनोविकार विषयक निबन्ध-लेखन की एक परम्परा विद्यमान थी । इस परम्परा का सूत्रपात् सन् 1876 मे बालकृष्ण भट्ट के 'प्रीति' शीर्षक निबन्ध से हुआ माना जा सकता है । तदनंतर उन्होंने आत्मनिर्भरता, सहानुभूति, भक्ति आदि अनेक निबंध लिखे । पंडित माधव प्रसाद मिश्र और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस लेखन-क्रम को अग्रसर किया । परन्तु इस परम्परा के सभी पूर्ववर्ती निबंधों का वैचारिक स्तर बहुत ही हलका है, विषय प्रतिपादन भी बहुत ही सतही है तथा इनकी लेखकीय प्रेरणा उपदेशात्मक और नैतिक-धार्मिक है । इसके विपरीत, शुक्ल जी के इन निबंधों का इस परम्परा में विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस महत्त्व एवं वैशिष्ट्य का कारण यह है कि उनके ये निबंध मनोवैज्ञानिक पड़ताल से समन्वित हैं तथा विषय के गहन-विशद चिन्तन-मनन और सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण से पुष्ट हैं । इसके अतिरिक्त, इनमें लेखक की सामाजिक-सांस्कृतिक-राष्ट्रीय सम्बद्धता एवं चिंता भी व्यक्त होती है । इनको पढ़कर यह तत्काल और असंदिग्ध रूप से समझ में आ जाता है कि ये निबन्ध किसी बहुअधीत, विपुल अनुभवसम्पन्न प्रतिभाशाली लेखक की गुरु-गभीर किंतु प्रीतिकर सर्जनात्मक कृतियाँ हैं, मन-बहलाव के हलके-फुलके वायवीय उपकरण या नीति-उपदेश-खंड नहीं ।

उदाहरण के लिए, पंडित बालकृष्ण भट्ट अपने 'प्रीति' शीर्षक निबंध में लिखते हैं-- ". . . . यह वह आकर्षण शक्ति है जो न्यूटन महाशय के प्रकट किये बिना ही आप ही आप प्रगट हुई है . . यह वह इन्द्रजाल जानती है जिसके बल से यह अनेक रूप धारण कर लेती है . . यह वह मोहन मंत्र है जिसके साधन से जगत वशीभूत हो सकता है . . . . हे भारतीय प्रजागण! तुम कब सपूर्ण कपट वंचक वृत्ति, परस्पर की ईर्ष्या, द्रोह, स्वार्थ तत्परता और निष्ठुरता आदि खल प्रकृति का त्याग कर, परम पवित्र बन्धु, प्रेम, ऐक्य और सुमति से पूर्ण हो सर्वसाधारण के सुख के दुःख में सुखी या दुःखी . . होगे ।"[3]

स्पष्ट ही भट्ट जी का उद्देश्य मनोवैज्ञानिक सम्बद्धता के साथ 'प्रीति' का विश्लेषण नहीं

---

1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ॰ 276

2 प्रस्तुत पुस्तक, पृ॰ 25

3 बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का संग्रह संपादक व्यास

है अपितु वायवीय ढंग से उसकी विशेषताओं और चमत्कारों का उल्लेख तथा स्थूल सामाजिक उद्बोधन है । इसकी समकक्षता में शुक्ल जी के 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबध की पक्तियाँ दृष्टव्य हैं--"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन में ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं । . विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति कहते हैं ।"[1]

यहाँ आप देख सकते हैं कि शुक्ल जी न तो वायवीय ढंग से लोभ और प्रीति की विशेषताएँ बताते हैं, न स्थूल उपदेश देते हैं । इसके विपरीत, वे मनोवैज्ञानिक संदर्भों से जुडते हैं, मनोभावों के तारतम्य का निरूपण करते हैं, मनोविकार विशेष के भेद बताते हैं, जीवन और जगत से मनोविकार विशेष का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, गहन विवेचन-विश्लेषणपूर्वक अपने विचार और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं तथा इस पूरी प्रक्रिया में उनका लेखन गभीर और अनुशासित बना रहता है ।

पडित माधव प्रसाद मिश्र के 'धृति' शीर्षक निबध मे 'धृति' शब्द के विविध अर्थ इस प्रकार बताये हैं--"स्मार्त्त टीकाकारों ने धृति शब्द का अर्थ बहुधा 'संतोष' किया है और किसी-किसी ने इसका अर्थ 'धैर्य' भी लिखा है । 'संतोष' वह शक्ति है जिससे ईश्वरीय शक्ति पर अपना अधिकार हो जाय । . . पहिले महात्माओं का संतोष स्वार्थ मे था और अब के महापुरुषो का परमार्थ में है ।"[2]

इस निबन्ध की भाषा भी दृष्टव्य है--"जो पुरुष अपने को धार्मिक या हरि भक्त बनाना चाहे . . ।"[3]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'क्रोध' शीर्षक निबंध की शुरुआत इस तरह होती है--"याद रखिए, क्रोध से और विवेक से शत्रुता है । क्रोध विवेक का पूरा शत्रु है । क्रोध एक प्रकार की प्रचड आँधी है . . . ।"[4]

और उनका 'लोभ' शीर्षक निबन्ध इस प्रकार शुरू होता है--"लोभ बहुत बुरा है । वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है, क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता ।"[5]

इन दोनों निबन्धों की शैली, प्रकृति और स्तर-रेखा यही है । द्विवेदी जी के अधिकाश निबंध इसी स्तर के हैं और इन्हीं को देखकर आचार्य शुक्ल ने इनको 'बातो का संग्रह' कहा था ।

आचार्य शुक्ल अपने निबधो मे खड़ी-बोली हिन्दी की प्रकृति को पूरी तरह सुरक्षित रखते

---

1 चिंतामणि 1, 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबध

2 माधव प्रसाद मिश्र निबध माला, प्रथम भाग, पृ॰ 25-26

3 वही, पृ॰ 28

4 संकलन, पृ॰ 24

5 वही, पृ॰ 70

हुए वैचारिक गाभीर्य, चिन्तन-मनन की गहनता और शैली की प्रौढ़ता एवं सूत्रात्मकता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनके बहुत से वाक्यो को तो सूक्ति का पद दिया जा सकता है। प्रस्तुत सदर्भ मे आचार्य शुक्ल का निबध-लेखन परम्परा मे विशिष्ट योगदान एवं स्थान है।

शुक्लोत्तर हिन्दी निबध लेखन मे वैविध्य और विस्तार अवश्य आया है पर गुणात्मक दृष्टि से इसमें कोई विशेष प्रगति लक्षित नहीं होती। आचार्य नद दुलारे वाजपेयी, डॉ॰ नगेन्द्र, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ॰ नदकिशोर देवराज, डॉ॰ सत्येन्द्र, देवीशकर अवस्थी आदि निबध-लेखक आचार्य शुक्ल की परम्परा मे ही परिगणित किए जायँगे। ललित अथवा शुद्ध व्यक्तिपरक निबधों की परम्परा आचार्य शुक्ल की परम्परा से सर्वथा भिन्न और पृथक् है। यह बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र से शुरू होकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, गुलाब राय, कुबेर नाथ राय, विद्या निवास मिश्र, शिव प्रसाद सिह, विवेकी राय, उमाकांत मालवीय के माध्यम से अग्रसर होता रही है। आज अधिकाश निबंध सैद्धातिक-व्यावहारिक साहित्य-समीक्षा विषयक तथा राजनीतिक, समाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विषयों पर लिखे जा रहे हैं। इस प्रकार के निबंध-लेखको का एक बहुत बडा वर्ग है जिसमें डॉ॰ रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, रमेश चन्द्र शाह, नेमिचंद्र जैन, पी॰ सी॰ जोशी, श्यामाचरण दुबे आदि बहुत से नाम गिनाये जा सकते हैं। इनमें अनेक लेखक आचार्य शुक्ल की लेखन-पद्धति, विवेचन शैली आदि से प्रभावित हैं। परन्तु निजी जीवन और साहित्य से अनेक रोचक सस्मरण एव प्रसग उपस्थित करते हुए अपने ठोस बौद्धिक-वैचारिक निबन्धो को सरस-सजीव बनाने तथा अपने विचारो-निष्कर्षों को सूत्र-शैली मे प्रस्तुत करने की कला में आचार्य शुक्ल सिद्धहस्त, सर्वश्रेष्ठ एव अद्वितीय हैं।

मनोविकारो पर तो उन्होने बहुत जबर्दस्त ढग से निबध लिखकर उसकी समस्त संभावनाओ को इस कदर निःशेष कर दिया कि उनके बाद किसी भी लेखक ने इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस नहीं दिखाया। उनके ये निबंध विचारात्मक निबंधों का चरम आदर्श हैं।

❑❑❑

मनोविकार-विषयक निबंध : विषय-प्रधान या व्यक्ति-प्रधान ?

आचार्य शुक्ल के मनोविकार-विषयक निबधो के बारे में प्राय: यह प्रश्न उठाया जाता है कि ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान, बुद्धि प्रधान हैं अथवा हृदय या भाव-प्रधान ?

स्वयं आचार्य शुक्ल द्वारा चिंतामणि (पहला भाग) मे प्रस्तुत किए गए 'निवेदन' से इस प्रश्न को कुछ अधिक बल मिला है । शुक्ल जी ने लिखा है, "इस पुस्तक मे मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश है । यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर । अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलो पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोडा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है । इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है । बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है ।

बस, इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठको पर ही छोडता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान ।"[1]

आचार्य शुक्ल ने यह संग्रह स्वय तैयार किया था और यह उनके जीवन काल में प्रकाशित भी हो गया था । उन्होने स्वय इसमें संग्रहीत निबंधों को 'विचारात्मक' निबंध का अभिधान दे दिया है ।[2] इसके बावजूद उन्होने पता नहीं यह क्यो लिखा कि विषय-प्रधान या व्यक्ति-प्रधान के निर्णय का कार्य विज्ञ पाठको पर छोड दिया जा रहा है ।

बहरहाल, शुक्ल जी के कथन से इतना तय हो जाता है कि ये निबध या तो विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान, और कुछ नहीं ।

वैसे शुक्ल जी का यह छोटा-सा वक्तव्य बडा व्यंजक और व्याख्या-सापेक्ष है । यह उनकी निबंध-विषयक मान्यताओं को भी व्यंजित करता है । इन निबधो की विशेषता यह है कि यात्रा के लिए निकलती रही है मुख्यतया बुद्धि पर गौणतया बुद्धि ने हृदय को भी बराबर साथ रखा है । स्पष्टतया ये शब्द शुक्ल जी की अपनी मान्यताओ के अनुसार ही है कि निबन्ध मुख्यतया 'विचार प्रसूत अर्थप्रधान'[3] होता है जबकि अर्थ से उनका तात्पर्य

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, 'निवेदन'

2 चिंतामणि, पहला भाग, शीर्षक पृष्ठ

3 चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ 162

'वस्तु या विषय' से है ।[1] यदि विचार का सम्बन्ध बुद्धि से माना जाय तो शुक्ल जी का आशय यह है कि निबंध मूलतः विषय-प्रधान तथा बुद्धि-प्रधान होता है ।

उनकी दूसरी मान्यता यह है कि "निबंध-लेखक अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों को साथ लेकर चलता है ।"

"तदनुसार शुक्ल जी का आशय यह होगा कि निबंध मुख्यतया बुद्धि-प्रधान होने के साथ-साथ गौणतया हृदय संयुक्त भी रहता है ।"

शुक्ल जी की यह यात्रा वास्तव में 'निबन्ध यात्रा' है, निबन्ध-लेखन का उपक्रम है जिसमे मुख्यतया बुद्धि प्रवृत्त हुई है और गौणतया हृदय-वृत्ति, पर दोनो साथ-साथ । बुद्धि अकेली कभी नहीं रही, हृदय बराबर उसके साथ रहा है ।

अपना रास्ता भी स्वयं बुद्धि ने ही निकाला है । जहाँ कहीं विवेच्य मे कोई गुत्थी आई, कोई उलझाव आया, कोई समस्या आई, वहाँ हृदय से कोई सहायता नहीं मिली या नहीं ली गई । समस्या को सुलझाने का, बाधा के निवारण का, जटिलता को दूर करने का रास्ता बुद्धि ने ही निकाला ।

इस प्रकार रास्ता बनाती हुई बुद्धि, निबन्ध को अग्रसर करती हुई बुद्धि, कहीं-कहीं भावाकर्षक या मार्मिक स्थलों पर भी पहुँची है । ये स्थल सर्वत्र और सदैव नहीं रहे, कहीं-कहीं और कभी-कभी ही मिले हैं । पर जहाँ और जब बुद्धि इन स्थलो पर पहुँची है, वहाँ और तब वह नहीं रमी बल्कि हृदय ही रमा है । आचार्य प्रवर मानते हैं कि जहाँ हृदय रमता है वहाँ उसकी कुछ-न-कुछ कहने की प्रवृत्ति होती है । अतः, रमने के क्रम में यहाँ भी हृदय ने कुछ कहा है । ऐसे मे बुद्धि की क्रिया स्थगित हो जाती है और हृदय सक्रिय हो जाता है । जहाँ हृदय रमकर कुछ कहता है वहाँ बुद्धि के श्रम का परिहार होता है । आचार्य शुक्ल के अनुसार निबन्ध-लेखन एक श्रम-साध्य क्रिया है । विचारों की कसावटभरी गुम्फन सिद्ध करने मे बुद्धि को बहुत श्रम करना पड़ता है । परन्तु जब हृदय आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त करता है, जब रचनाकार को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है, तब वह आनंदमय क्षण उसके बौद्धिक श्रम, उसकी बुद्धि की थकान, का परिहार कर देता है । बौद्धिक विवेचन-विश्लेषण मे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए गुंजाइश प्रायः नहीं रहती । वहाँ असम्पृक्त और तटस्थ रहते हुए वस्तुपरक रीति से प्राप्त समस्या से जूझना या विषय का विवेचन करना होता है । जिन स्थलो पर हृदय अपने लिए कुछ न कुछ पाता है वहीं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति सभव होती है । आचार्य शुक्ल को अपनी निबन्ध-यात्रा के बीच ऐसे सरस स्थल अक्सर मिलते रहे हैं ।

पर यह सब शुक्ल जी का अपना अनुभव है । इन निबन्धो के लेखन के दौरान स्वय शुक्ल जी यह अनुभव करते रहे हैं कि उनमे बुद्धि और हृदय की भूमिकाओं का तारतम्य एव अनुपात इस प्रकार का रहा है । लेकिन अपने इस अनुभव को उन्होंने 'निवेदन' के रूप मे प्रस्तुत किया है, 'निर्णय' के रूप मे नहीं । उनको लगा कि पाठकों का अनुभव कुछ दूसरा

---

1 चिंतामणि द्वितीय भाग पृ 59

भी हो सकता है, उनको बुद्धि और हृदय का अनुपात कुछ भिन्न भी लग सकता है। इसलिए वे अपनी ओर से कोई निर्णय लेकर उसको पाठक पर आरोपित नहीं करना चाहते, वे पाठक को अपने निर्णय के लिए स्वतंत्र छोड़ देते हैं। वे समझते हैं कि पाठक अज्ञ नहीं, 'विज्ञ' हैं और वे यह निर्णय लेने में स्वयं समर्थ हैं कि ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान, इनमें बुद्धि और हृदय की भूमिकाओं का तारतम्य क्या है ? इसलिए उन्होंने यह कार्य पाठकों पर ही छोड़ दिया, और समस्या फिर जैसी की तैसी रह गई।

अतः, प्रश्न है कि मनोविकार विषयक ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान ?

दोनों का एक मुख्य भेदक तत्त्व यह है कि विषय-प्रधान निबन्ध में विषय की प्रमुखता और प्रधानता रहती है जबकि व्यक्ति-प्रधान निबंध में व्यक्तित्व की प्रमुखता और प्रधानता रहती है, विषय गौण रहता है। गौण क्या रहता है, नगण्य और अत्यन्त क्षीण होता है, वह निबन्ध-लेखक की आत्माभिव्यक्ति के लिए बहाना मात्र होता है, या फिर उसका उपचार या उस पर विचार-विमर्श अत्यन्त आत्मनिष्ठ रूप में होता है। ये निबन्ध बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता-प्रधान होते हैं। इसीलिए इनको हृदय-प्रधान अथवा भावात्मक निबन्ध भी कहा जाता है। ये वास्तव में निबन्धकार के हृदय की भाषा होते हैं। इनमें रचनाकार के आत्मप्रकाशन की वृत्ति ही प्रधान होती है। लेखक विषय को नहीं, अपने वैदुष्य या ज्ञान-गरिमा-गांभीर्य को भी नहीं अपितु स्वयं अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है, अपनी वैयक्तिकता और अपने निजत्व को प्रकाशित करता है।

कभी-कभी तो निबन्ध-लेखक विषय के उपचार की प्रक्रिया में वह 'मानसिक दूरी' भी नहीं बना पाता या नहीं बनाए रख पाता जो पाठक द्वारा रचना के निर्विघ्न ग्रहण के लिए सर्वथा अपेक्षित होती है। ऐसे में निबंध अपने लेखक के स्थूल निजत्व के दंश से ग्रस्त रहते हुए अधपके भोजन जैसा विस्वादु और अग्राह्य हो जाता है। लेकिन फिर भी सत्य यही रहता है कि व्यक्ति-प्रधान निबंध में प्रतिपाद्य अथवा लक्ष्य विषय नहीं होता, निबंध-लेखक की वैयक्तिक भावनाएँ, व्यक्तिगत अनुभूति, निजी रुचि-विरुचि अथवा उसका व्यक्तित्व ही होता है। सिद्धहस्त लेखक इनको स्थूल वैयक्तिकता से मुक्त करके कलात्मक स्तर पर व्यक्त करने में सफल होता है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में शैलीगत वैशिष्ट्य और महत्त्व निबन्धों को 'कला' रूप प्रदान करता है।

इसके विपरीत, विषय-प्रधान निबन्ध में विषय ही सर्वप्रधान होता है। इनका आधार और लक्ष्य प्रतिपाद्य वस्तु ही होती है। तदनुसार ये निबंध बुद्धिप्रधान और विचारात्मक कहलाते हैं। विषय की प्रधानता के कारण इन निबन्धों में विषय की उपयुक्तता और विवेचन की सुव्यवस्था भी आवश्यक होती है। वस्तु को आदि, मध्य, उपसंहार में बाँटकर निबंध को एक स्थूल विधागत रूप भी दिया जाता है। इन निबंधों में एक प्रकार की रूप-संघटना भी अपेक्षित मानी गई है जिसके लिए "युक्ति, तर्क, प्रमाण, दृष्टांत आदि प्रस्तुत करके उसका आकार खड़ा करना होता है प्रतिपाद्य विषय को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सामग्री का चयन करके उसे ऐसा रूप देना अनिवार्य समझा जाता है जो पाठक के लिए सुपाठ्य होने के साथ साथ बुद्धिग्राह्य हो सके फलत

विषय और बुद्धि-प्रधान श्रेष्ठ विचारात्मक निबंधों के आदर्श के अनुसार आचार्य शुक्ल के ये निबंध गंभीर, अनुशासित, व्यवस्थित तथा तर्कपुष्ट वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करते हैं । सुतीक्ष्ण लेखकीय प्रतिभा, प्रखर बौद्धिकता, गभीर-चिंतन-मनन और अनवरत विषय-चिन्तन केन्द्रिकता इनका वैशिष्ट्य है । इन निबंधों का एक सुनिश्चित, गभीर और महत्त्वपूर्ण विषय है । इनमें सघन विचारो की कसावटभरी गूढ़-गुंफित परम्परा विद्यमान है । ये निबंध लेखक के गहन-विशद अध्ययन और प्रकाण्ड पाडित्य को भी व्यक्त करते हैं । आचार्य शुक्ल आदतन युक्तियाँ, तर्क, विविध सदर्भो से प्रमाण और दृष्टांत प्रस्तुत करके प्रतिपाद्य का पोषण एव समर्थन करते रहते है । इसके फलस्वरूप वे देश-विदेश की सभ्यता-सस्कृति, इतिहास-अर्थशास्त्र, राजनीति-राष्ट्रनीति, साहित्य और नैतिकता आदि के गहरे अध्येता और नाना प्रभावगतियों के सूक्ष्म निरीक्षक के रूप मे सामने आते हैं । वैयक्तिक प्रतिक्रिया और आत्मनिष्ठ उपचार से पृथक रखकर निस्पृह बौद्धिकता, तार्किकता, प्रमाण, दृष्टांत, लोक-साक्ष्य आदि के आधार पर विषय को प्रस्तुत करके आचार्य शुक्ल अपने इन निबंधों को स्पृहणीय वस्तुपरकता और सार्वभौमता प्रदान करते हैं । इसके फलस्वरूप इनके ये निबन्ध व्युत्पन्न एव प्रबुद्ध पाठक मात्र के लिए ग्राह्य बन जाते हैं; अतः ये निबन्ध व्यक्ति-प्रधान नहीं, विषय-प्रधान ही माने जायँगे ।

परन्तु विषय-प्रधान निबन्ध मे भी लेखकीय व्यक्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं होता । बल्कि आचार्य शुक्ल तो निबंध मात्र में लेखकीय व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता के सद्भाव को अनिवार्य मानते है और इसको भाषा-शैली एव अभिव्यजना प्रणाली तथा अर्थ सम्बन्धी विशेषता के द्विविध स्तर पर ग्रहण करते हैं । तदनुसार उनके इन निबधो में विषय-स्वरूप, पद्धति, शैली आदि के सभी स्तरों पर लेखक की व्यक्तिगत विशेषता का हस्तक्षेप मिलता है । इन निबधो मे लेखक अपनी स्वरुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कभी लोक, कभी जीवन, कभी संस्कृति, कभी विज्ञान, दर्शन और साहित्य के संदर्भों एवं ग्रंथों से प्रेरणा और समर्थन प्राप्त करता चलता है और अपने निजत्व के सद्भाव इनको कथावत् सरस बनाए रखता है । वह अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार विषय के नाना सम्बन्ध-सूत्रों पर विचरण करता हुआ चलता है । ये सम्बन्ध-सूत्र पत्तों के भीतर की नसों के समान एक-दूसरे से गुँथे रहते हैं । उदाहरण के लिए, लोभ और प्रीति के विवेचन-क्रम में वे प्रेम-मार्ग का विवेचन भी करने लगते हैं । इस प्रक्रिया मे वे प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार को और फिर फारसी-उर्दू शायरी एवं भारतीय साहित्य के संदर्भपूर्वक प्रेम के विविध रूपो की चर्चा करते हैं । यह प्रेम-मार्ग का विवेचन खासा लंबा चलता है । पर ये सभी सदर्भ-सूत्र 'पत्ते के भीतर की नसों के समान' एक-दूसरे से गुँथे हुए रहते हैं और लेखक इनका विवेचन शास्त्रीय आधार पर नहीं अपितु साहित्य के संदर्भ में स्वविवेक और स्वानुभव के आधार पर करता है । सिद्धहस्त कलाकार की भाँति वह इच्छानुसार नव-नव प्रासंगिक उद्भावनाएँ करता हुआ विवेचन को सुग्राह्य, सरस और सजीव बनाता चलता है ।[1]

1 इस विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में 'आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबधो की सामान्य विशेषताएं' शीर्षक के अंतर्गत (पृ० 42 से 6* तक) किया जा चुका है । अतः इसकी विशेष जानकारी वहीं प्राप्त करें

विषय के प्रति लेखकीय दृष्टि का वैशिष्ट्य निबंध की भाषा-शैली को भी विशिष्टता प्रदान कर देता है । वह इच्छा और अपेक्षा के अनुसार समास-व्यास शैली, अनुगम-निगमन विधि, अपनी अतिविशिष्ट एवं अति महत्त्वपूर्ण 'सूत्र शैली', व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास, चुटकी-छेड़छाड़ आदि के प्रयोग से अपने निबंधों को सजीव, सुग्राह्य, प्रभावशाली और विशिष्ट बनाता हुआ चलता है ।

लेकिन इन सब व्यक्तिगत विशेषताओं के बावजूद भी उसकी प्रतिबद्धता बराबर विषय के प्रति ही बनी रहती है, उसकी अखण्ड एकाग्रता का केन्द्र उसका प्रतिपाद्य ही बना रहता है । निबन्ध किसी भी स्तर पर व्यक्ति-प्रधान नहीं होने पाता । वास्तव में ये निबंध विषय-प्रधान साहित्यिक-सामाजिक निबंध हैं जिनमें लेखक के व्यक्तित्त्व का भी समुचित समाहार और सद्भाव मिलता है ।

निबन्ध : गद्य की कसौटी

आचार्य शुक्ल मानते हैं कि निबन्ध गद्य की कसौटी है, क्योकि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों मे ही सबसे अधिक संभव होता है । प्रयोग और लक्ष्य-भेद से भाषा की शक्ति के अनेक रूप और कार्य हो सकते हैं । लेकिन उसका एक प्रमुख रूप और कार्य है--अर्थ बोध कराना, कथ्य की सटीक एव प्रभावशाली अभिव्यक्ति करना । अतः अर्थ बोध एवं कथ्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति की सर्वाधिक सामर्थ्य निबध मे होता है, हो सकती है और गद्य एवं उसकी भाषा की इस शक्तिमत्ता की सबसे सटीक परख भी निबध मे ही हो सकती है ।

आचार्य शुक्ल ने अपने ये विचार सन् 1929 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे व्यक्त किए थे ।[1] निश्चय ही तब तक आचार्य शुक्ल गद्य की अद्भुत-असीम शक्तिमत्ता और उपयोगिता को समझ चुके थे । आधुनिकता की संवाहिका, वैज्ञानिक चेतना, बौद्धिकता, तर्कशीलता और स्वचेतनता के निकट पद्य की अपेक्षा गद्य का सबल वर्चस्व तथा उसकी अपरिहार्य क्रातिकारी उपयोगिता उनके समक्ष उद्घाटित हो चुकी थी । पिछले खेमे के पत्रकारों, संपादकों और साहित्यकारों ने संपादकीय आदि रूपों में छोटे-छोटे निबध लिखकर नवजागरण की चेतना और जनाकांक्षा की जैसी प्रखर एवं कारगर अभिव्यक्ति की थी उसको देखते हुए आचार्य शुक्ल निबंध को आत्मप्रबोधन, आत्मसाक्षात्कार तथा वैचारिक सप्रेषण के अत्यंत समर्थ क्रातिकारी माध्यम के रूप में ग्रहण कर चुके थे । परन्तु उनको इस बात का दुःख था कि उस शक्तिशाली माध्यम का समुचित एव अपेक्षित विकास नहीं हो पाया था । 1940[2] तक की निबध-यात्रा की निराशाजनक स्थिति को देखते हुए उन्होने खेदपूर्वक लिखा--

(क) भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नये-नये विचारों की उद्भावना करने वाले निबन्ध बहुत ही कम मिलते हैं ।[3]

(ख) विश्वविद्यालयो के उच्च शिक्षाक्रम मे हिन्दी साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबधों की--ऐसे निबंधो की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठको को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप

---

1 पृ॰ 463

2 आचार्य शुक्ल के जीवन काल मे 'इतिहास' का अतिम 'सशोधित और परिवर्द्धित' सस्करण सन् 1940 मे प्रकाशित हुआ था । तब तक की गतिविधियाँ इसमे समाविष्ट हैं ।

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 465

में जान पड़े--जितनी ही अधिक आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं ।[1]

(ग) ऐसे प्रकृत निबंध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी मे अभी कम देखने में आ रहे हैं ।[2]

(घ) अर्थ वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास कहानियो मे तो आया, पर निबन्ध में नहीं, जो उसका प्रकृत स्थान है ।[3]

(च) खेद है कि समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखने वाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा कसी हो, अधिक लेखक हमे न मिले ।[4]

आचार्य शुक्ल ने 'प्रकृत' निबन्ध को विचारप्रसूत एवं अर्थप्रधान[5] मानते हुए विचारात्मक निबन्ध को बहुत व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया है । उन्होंने लिखा--

''विचारात्मक निबन्ध जिसमें भावव्यंजना और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार भी हो तथा जिसमें सभी प्रकार की कृतियो की मार्मिक समीक्षा हो । काव्य-समीक्षा के अतिरिक्त विचारात्मक निबन्ध साहित्य की कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसंधान-क्रम या विचार-परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तत्त्वों के साथ लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी-पूरी झलकती है ।''[6]

आचार्य शुक्ल के कृतित्व में इधर-उधर बिखरे हुए निबंध-विषयक विचारों से यह ज्ञात होता है कि उन्होने निबन्ध मे इन तत्वो, विशेषताओं आदि का सद्‌भाव और समावेश माना है--

(1) विचार प्रसूत अर्थ-प्रधान गद्य-विधान (2) लेखकीय व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषता (3) मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धिरूप गहन विचारधारा (4) सूक्ष्म विचार एव दृष्टि संपन्नता (5) नये विचारो की उद्‌भावना मे समर्थ विचारो की गूढ़-गुंफित परम्परा (6) विचारो की सघन कसावट (7) अर्थगत वैशिष्ट्य और उसके आधार पर भाषा एवं अभिव्यजन- प्रणाली की विशेषता (8) असाधारण शैली (9) व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य (10)भाषा की नूतन शक्ति के चमत्कार से युक्त (11) अर्थ वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास (12) बुद्धि के अनुसंधान-क्रम से संग्रहीत अर्थ (13) भाषागत वैचित्र्य (14) भावव्यंजना का चमत्कार (15) लेखक की संपूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनो से युक्त (16) समास शैली (17) बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा की कसावट ।

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 513
2 चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ॰ 238
3 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 513
4 वही, पृ॰ 482
5 चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ॰ 160-161
6 वही, पृ॰ 159-160

इन तत्त्वों और विशेषताओं से पुष्ट निबंध के दायरे में आचार्य शुक्ल कृतियों की समीक्षा, आलोचना, यात्रा-वृत्त आदि को भी समाहित करके उसको बहुत व्यापक बना देते है । इसी व्यापक क्षेत्रीय निबंध को वे 'गद्य की कसौटी' मानते प्रतीत होते हैं । इस संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में उनकी यह मान्यता काफी कुछ ठीक भी लगती है ।

आचार्य शुक्ल 'भावात्मक' निबन्ध के नाम से निबंध के एक और भेद की कल्पना करते पर उसे वे भाषा के लिए हितकर नहीं मानते--"यह भाषा की शक्ति के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए ठीक नहीं जान पडता ।"[1] अर्थात् भाषा की 'पूर्ण शक्ति' के विकास की संभावना बौद्धिक-वैचारिक निबंधों मे ही सबसे अधिक हो सकती है । संभवत. इसी वर्ग के निबंधो को वे अर्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली के नूतन विकास का प्रकृत क्षेत्र मानते हैं ।

आचार्य गुलाब राय शुक्ल जी के इस अभिमत का समर्थन करते हैं कि निबन्ध गद्य की कसौटी है और इसकी पुष्टि के लिए अपनी ओर से निम्नलिखित कारण भी प्रस्तुत करते हैं--

(क) निबन्ध मे ही हम गद्य का निजी रूप देखते है । साहित्य की अन्य विधाओं में (जैसे जीवनी आदि मे) तो गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र है किन्तु निबंध मे वह पूर्ण शक्ति और सजधज के साथ प्रकट होती है ।

(ख) निबन्ध मे ही गद्य-लेखक की शैली का पूर्ण विकास दिखलाई पडता है और 'शैली ही व्यक्ति है' की उक्ति साहित्य की इस विधा के सम्बन्ध मे ही पूर्णतया सार्थक होती है ।

(ग) काव्य की इस विधा में सभी तत्त्व रहते हैं किन्तु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्त्व मिला है । कोई विषय निबन्ध के क्षेत्र के बाहर का नहीं है । इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, जीवन-मीमांसा, कथा, यात्रा सभी इसके व्यापक क्षेत्र के भीतर आते हैं । शैली की विशेषता विशेष प्रकार के विवेचनों और वर्णनो को निबंध की संज्ञा प्रदान करती है ।

(घ) निबन्ध कला अपने लिए साहित्य की सभी विधाओं से सामग्री ग्रहण करती है । लक्षणा-व्यंजना, हास्य-व्यंग्य आदि शैली के सभी साधन इस विधा की सेवा के लिए उपस्थित रहते हैं । निबन्ध के भीतर प्रबन्ध का-सा तारतम्य रहता है किन्तु एक संग्रह के भीतर निबंधो मे मुक्तक की-सी स्फुटता रहती है । यह कहानी और खण्डकाव्य के अधिक निकट है ।[2]

प्रस्तुत संदर्भ मे आचार्य शुक्ल के ये विचार भी दृष्टव्य है--

"भाषा अपनी शक्तियों का व्यवस्थित रूप मे विकास गद्य ही मे करती है । एक ओर तो संसार के सारे व्यवहार गद्य द्वारा चलते है, दूसरी ओर गूढ और जटिल विचारों को व्यक्त करने का उपयुक्त साधन भी गद्य ही है । बातों का बोध कराने के अतिरिक्त हृदय के हर्ष विषाद, प्रेम, करुणा इत्यादि भावों की व्यंजना के लिए भी गद्य का प्रयोग कम नहीं होता ।

---

1. चिंतामणि 3, पृ॰ 275
2. काव्य के रूप, पृ॰ 233

इस प्रकार गद्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है ।''[1]

इस बृहद और सर्वव्यापी परिकल्पना में तो निबंध गद्य की क्या, पद्य और काव्य की कसौटी भी बन सकता है। अन्यथा स्वतंत्र रूप में कौन विधा किसकी कसौटी बनेगी ? कोई एक विधा किसी दूसरी विधा की कसौटी नहीं बन सकती ।

वैसे, आचार्य गुलाब राय का यह कथन सही है कि निबंध गद्य का निजी रूप है, लेखक की शैली का पूर्ण विकास है तथा शैली ही व्यक्ति की चरितार्थता है । अन्य विधाओ मे तो गद्य माध्यम मात्र रहता है, या फिर परिस्थिति की अपेक्षाओं के अनुरूप प्रतिबंधों और शर्तों की सीमाओं मे विकसित होता है । जैसे जीवनी में . । वहाँ जो कुछ जैसा घटित हो चुका है वही गद्य में बँधेगा, गद्य उसी को शब्दमूर्त करेगा । इसी प्रकार कथारूपो मे गद्य पात्र, परिस्थिति, देश-काल, वातावरण आदि की अपेक्षाओ के अनुरूप ही विकसित होगा, रचनाकार शर्तों के भीतर ही लिखेगा या नाटक में संवाद की टेकनीक और कौशल के अनुसार ही रचनाकार को गद्य लिखना होगा . . ऐसी तैयारी करनी होगी कि शब्द मञ्च पर घटित होता हुआ दिखाई दे ।

निबन्ध की स्थिति भिन्न है । व्यक्तिप्रधान निबन्धो में तो लेखक आत्माभिव्यक्ति के लिए पूरी तरह स्वतंत्र है, विषय-प्रधान निबंधो में भी उसको व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के अवसर मिलते हैं, वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर उसको आत्मभिव्यक्ति की मर्यादित स्वतंत्रता मिलती है । व्यक्ति प्रधान निबंधों में लेखक वैयक्तिक भावनाओं एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति तथा भावना-कल्पना की उड़ान के लिए पूर्णत: स्वतंत्र रहता है । तदनुसार उसकी भाषा भी बहुआयामी होने लगती है । कभी वह भाव-व्यजना में प्रवृत्त होता है, कभी अर्थ-बोध कराता है, कभी दृश्य उपस्थित करता है, कभी सश्लिष्ट मूर्त्त-विधान करता है, और कभी उसकी भाषा अन्यान्य जटिल एवं अतर्कित भाषाई विधानो द्वारा अर्थ एव अनुभव को समृद्ध करती है । ऐसे मे उसकी निबंध-रचना सर्जनात्मक वैविध्य से पुष्ट होकर बहुआयामी हो जाती है और निश्चय ही भाषा की शक्ति के पूर्ण विकास के लिए अधिकाधिक सक्षम होती जाती है । प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक जार्ज लुइस बफ़ों (1707-88) की उक्ति 'स्टाइल इज द मैन' इन्हीं निबधो के संदर्भ में सर्वाधिक चरितार्थ होती है । स्मरणीय है कि 'शैली' पूँजीवादी पृष्ठभूमि मे व्यक्तिपरकता की सर्वथा आधुनिक अवधारणा से पुष्ट है और कवि-स्वभाव से सम्बद्ध 'रीति' की बहुत-कुछ वस्तुपरक शास्त्रीय अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है । लेखक की भाषा पूरी सजधज के साथ इन्हीं निबन्धों में प्रकट होती है ।

विषय-प्रधान निबन्धों में भी लेखक का मन अपने विशिष्ट मानसिक सघटन के अनुसार विषय के किसी विशेष सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर स्वच्छद विचरण करता है । इससे उसकी अर्थसम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता का विधान होता है । अर्थ सम्बन्धी विशेषता के आधार पर भाषा और अभिव्यंजना-प्रणाली की शैली की विशेषता का भी विधान होता है । तात्पर्य यह है कि वस्तु के वैशिष्ट्य के आधार पर अभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य के लिए भी मार्ग प्रशस्त होता है और भाषा की शक्ति के विकास की संभावनाएँ भी खुलती हैं ।

---

1 चिंतामणि 3- पृ 233

परन्तु आचार्य शुक्ल निबंध का प्रकृत स्वरूप 'विचार प्रसूत अर्थ-प्रधान' मानते हैं। वे बार-बार यह कहते हैं कि प्रकृत निबन्ध में सूक्ष्म विचार दृष्टि, पाठक की बुद्धि को उत्तेजित करके नयी विचार-पद्धति पर दोडा देने वाली विचारो की गूढ़ गुम्फित परम्परा, नाना अर्थ सम्बन्धो का वैचित्र्य और गतिशील अर्थ की परम्परा, हर पेरा में दबा-दबा कर कसे हुए विचार और सम्बद्ध विचार-खण्ड से सम्पृक्त वाक्य जैसी अनिवार्य विशेषताएँ विद्यमान रहती है। तदनुसार इस प्रकार के निबन्ध मे बहुत ही चुस्त भाषा, भाषा-शैली का नूतन विकास, भाषा की नूतन शक्ति का चमत्कार और असाधारण शैली जेसी अनिवार्य विशेषताएँ भी विद्यमान रहती हैं, क्योंकि "अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजना प्रणाली की विशेषता--शैली की विशेषता--खड़ी हो मकती है।"[1]

आचार्य शुक्ल यह भी बराबर साग्रह कहते हैं कि अर्थ और अभिव्यक्ति की इन विशेषताओ से युक्त निबंध पाठक को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप मे जान पड़ते है। इनमें लेखक की बुद्धि को भी श्रम करना पड़ता है।

इस प्रकार के गूढ-गंभीर निबध ही भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करने वाले होते है। इसी प्रकार के निबन्ध को आचार्य शुक्ल गद्य की कसौटी मानते हैं।

स्वय आचार्य शुक्ल के अपने मनोविकार-विषयक निबंध इसी उत्कृष्ट कोटि के सघन वैचारिक कसावट और असाधारण शैली वाले निबंध हैं। इनको गद्य की कसौटी माना जा सकता है क्योंकि इनमे भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास की सर्वाधिक संभावनाएँ लक्षित होती हैं।

गुरु-गंभीर विषय, अनेकानेक अर्थ-सम्बन्ध मूत्र और सूत्र-शाखाओं में लक्षित-अन्तर्भुक्त प्रौढचिंतन-मनन, व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म पर्यवेक्षण, गहन अनुभव, प्रकाण्ड पांडित्य, युक्ति-तर्क-प्रमाण-दृष्टांत से पुष्ट प्रतिपाद्य, खडीबोली हिन्दी की अपनी प्रकृति और संस्कृत तत्सम बहुल शब्दावली से युक्त भाषागत आधार, प्रौढ, सजीव, आत्मीय शैली, व्यक्तित्व व्यजक उपकरण एव ललित स्थल, सरस सटीक व्यंग्य-विनोद, चुटकी-छेडछाड़, मुहावरे-लोकोक्ति, लाक्षणिकता, बिम्बधर्मिता आदि विविध रचनाधर्मी तत्त्वों से युक्त सर्जनात्मक भाषा, प्रखर बौद्धिकता एव गहन चितन-मनन की सांद्र-सघन-सक्षिप्त सूत्राभिव्यक्ति आदि जैसे तत्त्व उनके निबन्धो मे भाषा की पूर्ण शक्ति के विकाम के द्वार उन्मुक्त कर देते हैं। इन्हीं तत्त्वों से पुष्ट निबन्ध को आचार्य शुक्ल गद्य की कसौटी मानते हैं।

❑❑❑

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ 465

निबन्ध-कला और शुक्ल जी के निबन्ध

निबन्ध कला का तात्पर्य

किसी भी कला रूप के लिए कोई सामान्य, सार्वकालिक या सार्वभौम आदर्श अथवा प्रतिमान निर्धारित नहीं किया जा सकता। फिर भी, विवेचन की सुविधा के लिए एक आधार खडा कर लिया जाता है। इसी दृष्टि से निबंध विधा का आधारभूत ढाँचा खड़ा करने वाले उसके कतिपय मूल विधायक तत्त्वो और लक्षणों का निर्धारण कर लिया गया है। इन्हीं मूल तत्त्वों और लक्षणो के आधार पर निबन्ध कला का विवेचन किया जाता है।

ये विधायक तत्त्व इस प्रकार हैं--

(1) गद्य माध्यम (2) औसत आकार (3) सीमित विषय (4) लेखकीय व्यक्तित्व या वैयक्तिकता का सद्भाव (5) विवेचन-विश्लेषण, प्रस्तुति की व्यवस्था, सुसम्बद्धता, एकसूत्रता (6) समर्थ-समीचीन भाषा और प्रौढ़ सुगठित शैली या उपयुक्त आत्मीय शैली (7) प्रयोजन।

इन तत्त्वों का किंचित विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में पहले यथास्थान किया जा चुका है। वह पृष्ठ संख्या 7 से 10 के बीच दृष्टव्य है। इसको वहीं देखें।

इन तत्त्वों के अतिरिक्त, निबन्धों का विषय-वस्तु, लेखकीय व्यक्तित्व, शिल्प, पद्धति आदि अनेक दृष्टियों से कई तरह का वर्गीकरण किया गया है; यथा--

(1) विषय-प्रधान या व्यक्ति-प्रधान (2) बुद्धि-प्रधान या हृदय-प्रधान (3) विचार-प्रधान या भाव-प्रधान (4) वस्तुपरक या आत्मपरक (5) वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक या भावात्मक (6) आलोचनात्मक या अनुसंधानपरक (7) यात्रावृत्तात्मक एवं (8) ललित आदि।

इन विशिष्ट वर्गों या प्रकारों की अलग-अलग विशेषताएँ और अपेक्षाएँ निर्दिष्ट की गई हैं, उनके विशिष्ट-विशिष्ट तत्त्व और लक्षण बताये गए हैं, शिल्प और पद्धतिगत वैशिष्ट्य बताया गया है। इस सब के आधार पर भी निबन्ध-कला का विवेचन किया जाता है, विशेष-विशेष निबन्धों को विशेष-विशेष कसौटियों पर जाँचा-परखा जाता है।

फिर, देशी-विदेशी विद्वानों और निबन्धकारों द्वारा प्रस्तुत की गई निबन्ध की परिभाषाएँ हैं। हालाँकि ये परिभाषाएँ विधायक तत्त्वो और लक्षणों के आधार पर ही प्रस्तुत की गई हैं फिर भी ये दृष्टव्य हैं। क्योंकि भिन्न-भिन्न परिभाषाकार अपनी विशिष्ट दृष्टि से भिन्न-भिन्न तत्त्वों पर बल देते हैं, या कभी-कभी किसी अनिर्दिष्ट तत्त्व अथवा पक्ष की भी झलक देते हैं

आचार्य गुलाबराय ने निबध की परिभाषा इस प्रकार की है--

''निबंध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो ।''

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी निबंध की परिभाषा इस प्रकार करते हैं--

''असम्पूर्णता का विचार न करने वाला गद्य-रचना का वह प्रकार जिसमें स्वानुभूति की प्रधानता हो, विषय-निरूपण में स्वतत्रता हो, जिसमें लेखक का व्यक्तित्व पूर्ण रूप में प्रतिबिंबित हो, जिसकी शैली मौलिक तथा साहित्य-कोटि की हो, निबन्ध कहलाएगा ।''

चूँकि विवेच्य निबन्ध आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित है, इसलिए निबन्ध के ऊपर निर्दिष्ट तत्त्वों और लक्षणों के अतिरिक्त विशेषकर आचार्य शुक्ल के निबन्ध विषयक निजी विचारो के आधार पर उनकी निबन्ध-कला का विवेचन किया जायगा ।

आचार्य शुक्ल निबंध के बारे में अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं--

(क) निबन्ध गद्य की कसौटी है । भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धो मे ही सबसे अधिक संभव होता है आधुनिक पाश्चात्य लक्षणो के अनुसार निबध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो ।

(ख) निबन्ध अर्थ-प्रधान गद्य-विधा है जो सघन बौद्धिकता, गूढ विचारो की कसावट, लेखकीय व्यक्तित्व एवं वैशिष्ट्य, भाषा-चमत्कार और असाधारण शैली से पुष्ट होता है तथा अपनी वैचारिक गहनता से पाठको की बुद्धि को उत्तेजित करके उनमें नये-नये विचारों की उद्भावना करता है ।

इनको तथा अन्यत्र व्यक्त किए गए विचारो के आधार पर शुक्ल जी का निबन्ध विषयक समग्र मतव्य इस प्रकार है--

(1) विचार प्रसूत अर्थ-प्रधान गद्य-विधान (2) गद्य की कसौटी (3) लेखकीय व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषता, व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य से युक्त (4) मानसिक श्रम-साध्य गहन विचारधारा (5) विचारो की सघन कसावट (6) पाठक की बुद्धि को नयी विचार-पद्धति पर दौड़ा देने, नये विचारों की उद्भावना करवाने में समर्थ विचारो की गूढ-गुम्फित परम्परा (7) लेखक की मानसिक सघटना के अनुसार अर्थगत वशिष्ट्य और तदनुसार भाषा-शैली में भी परिवर्तन एव वैशिष्ट्य (8) नूतन शक्ति के चमत्कार और वैचित्र्य से युक्त भाषा (9) भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास की सर्वाधिक संभावनाओं से युक्त (10) असाधारण शैली (11) निबन्ध-लेखक अपने लेखन मे अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और हृदय-पक्ष दोनो के साथ प्रवृत्त होता है । (12) विषय और विवेचन की गुरुता-गभीरता के साथ निबन्ध मे हृदय के भावों की भी अच्छी झलक रहती है ।

शुक्ल जी के मनोविकार विषयक इन निबधों के बारे मे प्राय: यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि ये मनोवैज्ञानिक निबन्ध हैं या साहित्यिक, विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान ?

स्वयं शुक्ल जी ने इनके बारे में लिखा है--''इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले

कुछ प्रदेश है । यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर । अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है । इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है । बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है । . . इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान ।"

शुक्ल जी के प्रस्तुत कथन से इतना तो तय है कि ये निबन्ध इन दोनों वर्गों मे से एक वर्ग के अवश्य हैं--या तो विषय-प्रधान या व्यक्ति-प्रधान ।

निबन्ध लिखना कोई हल्का-फुलका काम नहीं, मानसिक श्रमसाध्य क्रिया है । गूढ़ विचारों की कसावटभरी परम्परा का विधान करने में लेखक को भारी बौद्धिक श्रम करना पडता है । परन्तु निवध लेखन के श्रम मे जब लेखक को हार्दिक-आत्मिक भावाभिव्यक्ति का अवसर मिलता है तब उसकी बौद्धिक थकान का परिहार हो जाता है । अत. निबंध मे दोनों पक्षो--बुद्धि और हृदय, विषय और व्यक्तित्व--का सहभाव रहता है । प्रधानता की बात तय करनी रह जाती है ।

दोनो का एक मुख्य भेदक तत्त्व यह है कि विषय-प्रधान निबंध में विषय की प्रधानता रहती है और व्यक्तित्व की गौणता जबकि व्यक्ति-प्रधान मे व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और विषय की गौणता । इनमे आत्म-प्रकाशन की वृत्ति ही प्रमुख होती है । विषय इस हद तक गौण और नगण्यवत् रहता है कि वह लेखक की आत्माभिव्यक्ति के लिए बहाना मात्र होकर रह जाता है।

इसके विपरीत, विषय-प्रधान निबन्ध में विषय ही प्रधान होता है । इसका आधार और लक्ष्य प्रतिपाद्य वस्तु ही होती है । तदनुसार ये निबन्ध बुद्धि-प्रधान और भावात्मक कहलाते हैं । विषय की प्रधानता के कारण इन निबन्धों में विषय की उपयुक्तता, गंभीरता तथा विवेचन एव प्रस्तुति की व्यवस्था एवं सुसम्बद्धता आवश्यक होती है । वस्तु को आदि, मध्य और उपसंहार में बाँधकर निबन्ध को एक स्थूल विधागत रूप भी दिया जाता है । 'युक्ति, तर्क, प्रमाण, दृष्टान्त आदि प्रस्तुत करके उसका आकार खड़ा करना होता . प्रतिपाद्य विषय को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में सामग्री का चयन करके' पाठक के लिए सुबोध और सुग्राह्य बनाना होता है । 'मूलतः विषय प्रधान निबन्ध की आत्मा का निर्माण व्यापक भाव-सामग्री से होता है ।'

लेकिन व्यक्तित्व का निषेध इन निबन्धो में भी नहीं होता । वस्तु, भाषा-शैली और अभिव्यजना-प्रणाली--तीनों स्तरों पर लेखकीय व्यक्तित्व का अनिवार्य किन्तु समुचित एव सीमित हस्तक्षेप एव सद्भाव रहता है । पर व्यक्तित्व व्यजक समस्त विशेषताओ के बावजूद भी निबन्ध-लेखक की अखण्ड एकाग्रता का केन्द्र उसका प्रतिपाद्य ही बना रहता है, उसकी प्रतिबद्धता विषय के प्रति ही बना रहती है । यही सब इस प्रकार के निबन्धों की कला है ।

आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्धों मे विषयप्रधान निबंधों की उपर्युक्त प्रायः सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं । स्वयं आचार्य शुक्ल द्वारा श्रेष्ठ विचारात्मक-बौद्धिक निबन्धो के तत्त्व भी उनके इन निबधो में ही सर्वाधिक चरितार्थ मिलते हैं । इसलिए ये निबन्ध विषयप्रधान निबन्ध माने जायँगे नहीं और यहाँ इनका विवेचन इसी रूप में किया जायगा

भिन्न संदर्भ में आचार्य प्रवर के ये निबन्ध मनोविकार विषयक होने के बावजूद, विवेचन-विश्लेषण की वैज्ञानिक-शास्त्रीय पद्धति अपनाने के बावजूद और आधुनिक मनोवेत्ताओं के विचारों से प्रेरित-प्रभावित होने के बावजूद शुद्ध मनोवैज्ञानिक लेख नहीं हैं। स्वरूप, पद्धति, शैली, लक्ष्य--किसी भी दृष्टि से इनको शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि इन निबन्धों का लक्ष्य भिन्न है तथा स्वरूप, पद्धति, भाषा-शैली सभी स्तरों पर लेखकीय व्यक्तित्व का अपेक्षित सद्भाव है।

अतः ये निबन्ध विषय-प्रधान साहित्यिक-सामाजिक निबन्ध हैं। इनकी निबंध-कला का विवेचन-विश्लेषण इसी परिप्रेक्ष्य में किया जायगा।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दी मे मनोविकार विषयक निबन्ध-लेखन की परम्परा 1876 में बालकृष्ण भट्ट के 'प्रीति' शीर्षक निबंध से शुरू हुई थी। प्रताप नारायण मिश्र, माधव प्रसाद मिश्र और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस परम्परा का अग्रसर अवश्य किया परन्तु उनका वैचारिक स्तर बहुत हलका रहा। इसके विपरीत शुक्ल जी के ये निबन्ध गहन-विशद चिन्तन-मनन और सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण से पुष्ट हैं तथा किसी वैदुष्यपूर्ण विदग्ध लेखक की कलाकृति प्रतीत होते हैं।

विषय-प्रधान निबंधो के आदर्श के अनुरूप इन निबंधो का लक्ष्य एवं आधार प्रतिपाद्य विषय ही है। लेखक का ध्यान बराबर अपने विवेच्य विषय पर केन्द्रित रहता है। इनमे तथ्य का सूक्ष्म, गंभीर और व्यवस्थित निरूपण किया गया मिलता है। भाव विषयक इन निबंधो मे आचार्य शुक्ल मनोवैज्ञानिक संदर्भों से जुडते हुए, भाव-चक्र मे भाव विशेष का स्थान बताते हैं। भाव के वर्ग, भाव सगठन के स्वरूप, भाव के हेतु, कारक, लक्षण, परिभाषा, दो भावो की तुलना, सजातीय और सवर्गीय भाव, उनमे तारतम्य, भाव विशेष के विविध रूप, उसकी विविध कोटियें और श्रेणियों आदि तमाम सम्बद्ध संदर्भों का निर्देश करते हैं। तदनन्तर वे भाव के प्रतिक्रियात्मक, सामाजिक, साहित्यिक, सास्कृतिक आदि संदर्भो पर आते हैं। वे व्यक्तिगत और लोकगत प्रतिक्रिया का संकेत भी देते है। और इस सारी चर्चा के दौरान वे बराबर युक्ति, प्रमाण, तर्क, दृष्टात, उदाहरण आदि देकर अपने मतव्यों को स्पष्ट और विचारों को पुष्ट करते चलते हैं। वे उदाहरण देते अवश्य हैं, यह उनकी विवेचन शैली और निबन्ध कला का अनिवार्य अग है। कहीं-कहीं तो वे एकाधिक उदाहरणो से अपनी बात स्पष्ट और पुष्ट करते हैं।

इन सबके बावजूद ये निबन्ध निपट निर्वैयक्तिक या नीरस नहीं होने पाए हैं। इनका लेखक विविध रूपो मे अपने निजत्व के सद्भाव से इनको कथावत सरस बनाता हुआ चलता है।

श्रद्धा-भक्ति

यह आचार्य शुक्ल का एक विषय-प्रधान साहित्यिक-सामाजिक निबन्ध है। इसमे दो मनोविकारो का एक युग्मक के रूप मे विवेचन किया गया है। विषयप्रधान निबंधो के आदर्श के अनुसार यहाँ लेखक की एकाग्रता का केन्द्र विषय है, उसका लक्ष्य और आधार प्रतिपाद्य ही है।

आचार्य शुक्ल सबसे पहले श्रद्धा के हेतु के निर्देशपूर्वक श्रद्धा की परिभाषा देते हैं।

मनुष्य मे 'सामान्य से विशेष गुण या शक्ति का विकास' तथा उसके 'कर्मो की विश्व-वाञ्छनीयता' श्रद्धा के हेतु एव प्रेरक हैं तथा 'हृदय मे स्थापित स्थायी आनन्द पद्धति' और 'महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृतिपूर्वक पूज्य बुद्धि का संचार' श्रद्धा की परिभाषा है । तदनतर वे विषय के आयाम का विस्तार करते हुए 'प्रेम' और 'श्रद्धा' में अतर बताते हैं । इस प्रसग में वे प्रेमी और प्रिय का, श्रद्धेय और श्रद्धालु का सदर्भ देते है, प्रेम के पक्ष और मध्यस्थ का, श्रद्धा के पक्ष और मध्यस्थ का तथा प्रेम और श्रद्धा दोनो के कारणो का निर्देश करते हुए प्रेम और श्रद्धा के तारतम्य का विधिवत् निरूपण करते हैं तथा साराश एवं निष्कर्ष भी प्रस्तुत करते हैं । उदाहरण के लिए, मध्यस्थ की चर्चा करते हुए वे कहते हैं--"साराश यह है कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति मे प्रिय पर मे होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है । एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरे में कर्मो को व्यक्ति द्वारा । एक मे कर्म प्रधान है, दूसरी मे व्यक्ति ।"[1]

तदनतर वे एक और आयाम खोलते हुए 'लोभ', 'प्रेम' और 'श्रद्धा' में तारतम्य का निरूपण करते हैं । वे श्रद्धा के स्वरूप का विधिवत् विश्लेषण करते हुए उसके प्रकार, विविध रूपो आदि का निर्देश करते हैं । इसी प्रकार वे भक्ति के स्वरूप-विवेचन के क्रम मे भक्ति के प्रकार, रूपो आदि का निदेश करते हुए चलते हैं ।

अपनी भाव-विवेचन-शैली के अनुसार वे मनोभाव विशेष का उसकी किसी भंगिमा या उसके किसी छाया-मनोविकार मे तारतम्य दिखाते हैं । जैसे यहाँ उन्होने भक्ति और आत्म-निवेदन मे दिखाया है । वे 'प्रेमी', 'लोभी', 'कद्रदान' और 'रीझने वाले' की वृत्तियो मे पारस्परिक तारतम्य दिखाते हैं । सभ्यता के विकास-क्रम के साथ मानवीय भावों--दया, निष्ठुरता आदि का विकास दिखाते हैं और देश-विदेश मे उसकी परिणतियो का भी सकेत करते है । श्रद्धा और भक्ति की तुलना करते हैं । भाव-विशेष के सम्बन्ध में विशिष्ट मनोवैज्ञानिक स्थितियो की चर्चा करते हैं, आदि-आदि ।

उनका यह विवेचन प्रायः शास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक ढर्रे पर चलता है, परन्तु फिर भी वह निपट निर्वैयक्तिक अथवा शुद्ध मनोविज्ञानशास्त्रीय नहीं होने पाता ।

जैसा कि कहा गया है, आचार्य शुक्ल निबन्ध मे लेखकीय व्यक्तित्व अथवा लेखक की व्यक्तिगत विशेषता का सद्भाव अनिवार्य मानते है । उसके अभाव मे न तो निबंध निबध कहलाएगा और न निबन्ध-कला के स्वरूप की प्रतिष्ठा हो पाएगी ।

निबन्ध-लेखक कोई दार्शनिक या तत्त्व-चितक नहीं होता । इसी प्रकार उसकी रचना भी कोई वैज्ञानिक सिद्धात-निरूपण या शास्त्र-खण्ड नहीं होती । विषय-प्रधान निबंधों मे लेखकीय व्यक्तित्व का सद्भाव वस्तु के स्वरूप, विवेचन-प्रतिपादन की पद्धति और भाषा-शैली सभी स्तरों पर घटित होता है । निबन्ध-लेखक किसी दार्शनिक या तत्त्व चितक की भाँति अपने सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए उपयोगी सूत्रों को पकडकर किसी एक ओर सीधा नहीं चलता जाता । वह अपनी विशिष्ट मानसिक सघटना, व्यक्तिगत मानसिक रुचि या प्रवृत्ति के अनुसार विषय को विशेष दृष्टि से देखता हुआ, स्वच्छन्द गति से इधर-उधर बिखरी हुई सम्बद्ध सूत्र-

1 चिंतामणि पहला भाग पृ 19

शाखाओं पर विचरता चलता है । इस प्रक्रिया में उसकी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात बुद्धि और भावात्मक हृदय--दोनो की सक्रियता रहती है । इसी से 'अर्थ सम्बन्धों के वैचित्र्य' और गतिशील अर्थ-परम्परा का जन्म होता है और तदनुसार व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य, भाषाई चमत्कार और असाधारण शैली का भी प्रादुर्भाव होता है । यही सब तत्त्व मिलकर निबन्ध कला के स्वरूप के प्रतिष्ठापक बनते हैं ।

श्रद्धा-भक्ति निबन्ध में आचार्य शुक्ल विषय को केवल मनोविज्ञानशास्त्री की सीमित, एकल या शुष्क वस्तुपरक दृष्टि से नहीं देखते बल्कि अपनी विशिष्ट मानसिक सत्ता--अपने समग्र व्यक्तित्व, बौद्धिक बनावट, रुचि, प्रवृत्ति, हृदयगत भावों आदि के अनुसार अपनी साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टियों से भी देखते हैं और किसी एक ओर सीधे न चलकर विविध सम्बद्ध सूत्र-शाखाओ पर विचरते हुए चलने की स्वच्छंदता लेते हैं ।

उदाहरण के लिए, श्रद्धा-भक्ति की व्याख्या-विवेचना वे मूलतः मध्यकालीन हिन्दी भक्ति साहित्य और रस के सदर्भ मे करते हैं । इस प्रक्रिया में वे सामजिक [1], लोकपरक [2], नैतिक [3], धार्मिक [4], सांस्कृतिक [5], कानूनी [6], चिकित्साशास्त्रीय [7], वैज्ञानिक रसायनशास्त्रीय [8], प्रकृतिपरक [9], कलागत [10], पौराणिक [11], लोकमंगलपरक [12], कर्त्तव्याकर्त्तव्यपरक [13], आत्मालोचनपरक [14], ऐतिहासिक [15], देश-विदेशपरक [16], आदि तरह-तरह के संदर्भ-सूत्रों पर इच्छानुसार विचरते हुए चलते हैं, यथा--रुचि विषय विशेष को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से देखते-परखते हुए चलते हैं । इस बीच वे नाना प्रकार के अच्छे-बुरे, सज्जन-दुष्ट, लोभी-कपटी, लम्पट-धूर्त्त, प्रेमी और भक्त, श्रद्धेय और श्रद्धालु, कद्रदान और रीझने वाले, पंडे-पुरोहित, सलज्ज और निर्लज्ज, भावुक-सहृदय और निष्ठुर, मूर्ख और विद्वान मनुष्यों को, यहाँ तक कि पशु-पक्षियो, पेड़-पौधों को भी विवेच्य से सम्बद्ध करके उनकी भी चर्चा करते चलते हैं । इस प्रकार के संदर्भ वस्तुतः पूरे निबंध में मिलते हैं । अतः जीवन, समाज, लोक-साहित्य, देश-काल, मानवीय संदर्भ--इन सबसे प्रस्तुत निबंध का अनिवार्य सम्बन्ध है ।

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 20-21, 27, 34
2 वही, पृ॰ 18,
3 वही पृ॰ 22 27, 28, 37, 39, 42
4 वही, पृ॰ 31, 32, 39, 42 , 43
5 वही, पृ॰ 38, 41, 43
6 वही, पृ॰ 31
7 वही, पृ॰ 32
8 वही, पृ॰ 34
9 वही, पृ॰ 40
10 वही, पृ॰ 19, 24
11 वही, पृ॰ 27, 34, 37, 41
12 वही, पृ॰ 26, 27, 28, 34, 42, 43
13 वही, पृ॰ 37, 43
14 वही पृ॰ 21
15 वही, पृ॰ 34
16 वही, पृ॰ 38

इन सदर्भों के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल प्रस्तुत निबन्ध में कला सिद्धांत विशेष, विद्वत्ता की व्याख्या, क्षात्र धर्म की व्याख्या, कतिपय विशिष्ट पर्यवेक्षण और निर्णय, ईश्वर की खोज और चेतना मात्र के विकास विषयक संदर्भ, विश्वात्मा में विश्वास के उल्लेख आदि भी प्रस्तुत करते चलते हैं ।

ये संदर्भ आत्माभिव्यजक होने के बावजूद अपने में साध्य नहीं हैं, ये साधन मात्र हैं, साध्य तो भाव या मनोविकार ही है । उनका विवेचन ही निबन्ध का वास्तविक प्रतिपाद्य है । ये विविध सदर्भ निबंध के मूल प्रतिपाद्य से सघन रूप से सम्बद्ध और उसके पोषक हैं । यह अवश्य है कि भाव का विवेचन शास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं बल्कि मूलतः साहित्यिक-सामाजिक दृष्टि से किया गया है और उसको विविध मनोवैज्ञानिक संदर्भों से भी जोड़ा गया है । इन विविध दृष्टियों और सम्बन्ध-सूत्रो से निबन्ध में अर्थ-वैचित्र्य तथा अर्थ की गतिशीलता का सद्भाव होता है और आचार्य शुक्ल की निबन्ध कला विषयक एक महत्त्वपूर्ण शर्त की पूर्ति होती है । विशुद्ध मनोविज्ञान शास्त्री न तो विषय के इतने आयाम खोलता है और न इतने विविध संदर्भ-सम्बन्ध सूत्रों से जुडते चलने, उन पर विचरण करते चलने की स्वच्छंदता ही प्राप्त करता है । वह तो अपने लक्ष्य की ओर एक सूत्र पकड़कर सीधे चलता चला जाता है ।

विषय-प्रधान श्रेष्ठ निबंधों के आदर्श के अनुसार प्रस्तुत निबन्ध में सूक्ष्म विचार दृष्टि, विचारो की सघन कसावट और उनकी गूढ गुम्फित परम्परा, विवेचन की वैज्ञानिकता और तथ्य निरूपण की गभीरता, प्रस्तुति की सुसम्बद्ध व्यवस्था तथा अर्थ-सूत्रो के निर्वाह आदि की समुचित विद्यमानता है ।

उदाहरण के लिए, विचारो की 'गूढ़-गुंफित परम्परा' का एक नमूना देखें--"कर्त्ता से बढकर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं । कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है । कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं । कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केन्द्र हो जाता है ।"[1]

एक अन्य उदाहरण दृष्टव्य है--"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है । प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए ससार से अलग करना चाहता है । प्रेम मे केवल दो पक्ष होते हैं--श्रद्धा में तीन । प्रेम मे कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा मे मध्यस्थ अपेक्षित है । प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए ।"[2]

आचार्य शुक्ल की मान्यता के अनुसार सर्वश्रेष्ठ वैचारिक निबन्धों में विचार प्रत्येक पैरा मे ठूँस-ठूँस कर भरे गए होते हैं । इसके भी एक-दो उदाहरण दृष्टव्य हैं--

(क) अनुभवात्मक मन को आकर्षित करने वाले आश्रय और परिणाम है, गुण

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ० 18

2 वही पृ० 18 19

नहीं । ये ही अनुभूति के विषय हैं । अनुभूति पर प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है । अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी । अत: सिद्धान्त-पथो के सम्बन्ध मे जो आनन्दानुभव करने की बातें हैं वे पथिको मे तथा उनके चारो ओर पाई जायँगी । सत्पथ के दीपक उन्हीं के हाथ में है ।"[1]

(ख) "दूसरो की श्रद्धा ससार में एक अन्यत वाञ्छनीय वस्तु है, क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय काय सुगम होता है--जीवन की कठिनता कम होती है । जिस पर लोगों की अश्रद्धा होगी उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं । उसे या तो काँटो पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पडता है । पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है उसके पैर रखने के लिए फूलों की पखड़ियाँ . बिछाई जाती हैं ।"[2]

श्रेष्ठ वैचारिक निबन्ध मे विचारो की गूढ-गुम्फित परम्परा पाठकों की बुद्धि को उत्तेजित करके नयी विचार-पद्धति पर दौड़ा देती है । इसका भी उदाहरण द्रष्टव्य है--

"प्रश्न है कि शील कला और साधन सम्पत्ति--श्रद्धा के इन तीनो विषयों मे से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे । इसका बेधड़क उत्तर यही दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति रक्षा से है । उसके अभाव मे समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन सम्पत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है ।"[3]

प्रश्न है कि क्या श्रद्धा के ये तीन ही रूप हो सकते हैं ? श्रद्धा के कुल कितने हेतु या प्रेरक या विषय संभव हैं ? शील से मनुष्य-मात्र की स्थिति रक्षा-कैसे हो सकती है ? या शील का प्रयोग धर्म के अर्थ मे किया गया है तब धर्म के बारे में भी यही जिज्ञासा की जा सकती है । मनुष्य मात्र की स्थिति-रक्षा ही समाज का मूल आधार है--यह जानते हुए भी आज संसार में यह संहारक अस्त्र-शस्त्रों की होड, यह मार-काट, यह हिंसा और आतंकवाद क्यो हे ? दुनिया इन विध्वंसक-हिंसक कारनामो में क्यों लगी हुई है ? दुनिया के लोग एकजुट होकर मनुष्य मात्र के अस्तित्व की रक्षा की व्यवस्था क्यो नहीं करते ? यदि यह माना जाय कि नाना प्रकार की राजनीतिक-नैतिक संस्थाएँ, संघ आदि की स्थापना इसी निमित्त हुई है, अस्त्र-शस्त्रों के नाश और उनकी कटौती, परमाणु अप्रसार संधि आदि जैसे तत्त्वों और मुद्दो की चिंता इसी दिशा नें किए गए प्रयास हैं तब यह प्रश्न उठेगा कि क्या मनुष्य मात्र की स्थिति को किसी प्रकार बचा लेने से ही समाज की अस्तित्व-रक्षा हो जायगी ? आदमी जिंदा बना रहे पर जानवर, जाहिल, जंगली, बर्बर और हिंसक बना रहे तो क्या समाज बच पाएगा ? आदि

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ 36

2 वही, पृ 27-28

3 वही, पृ 27

नाना प्रकार के सम्बद्ध प्रश्न नये-नये रूपों मे विज्ञ पाठक के मन में उभर सकते हैं और पाठक की बुद्धि को नयी विचार-पद्धति पर दौड़ा सकते है ।

ये सब तत्त्व मिलकर निबन्ध-कला के आदर्श रूप की सिद्धि करते हैं और 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक निबन्ध को एक श्रेष्ठ निबन्ध बना देते हैं । इन तत्त्वो से पुष्ट यह निबन्ध पाठक को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि प्रतीत होता है ।

परन्तु निबन्ध की श्रेष्ठ कलात्मक सिद्धि के लिए विचार-शृंखला की अविच्छिन्नता-अखण्डता, विचार-सूत्रों का निर्वाह, पूर्वापर क्रमबद्धता, वस्तु की सुसम्बद्ध-सुसंघटित प्रस्तुति, निर्भ्रान्त वैज्ञानिक प्रतिपादन आदि भी सर्वथा आवश्यक हैं ।

प्रस्तुत निबन्ध इन सब तत्त्वो से भी पुष्ट है । उदाहरण के लिए, निबन्ध का प्रारम्भ पृष्ठ सत्रह पर 'श्रद्धा' के विवेचन-विश्लेषण से किया गया है । इस क्रम मे बीसियो भिन्न-भिन्न संदर्भ और सम्बन्ध-सूत्र उठाते-जोड़ते आचार्य शुक्ल श्रद्धाविषयक विवेचन को पृष्ठ संख्या बत्तीस तक ले चलते है । यहाँ उल्लेख्य है कि इन मध्यवर्ती सोलह-सत्रह पृष्ठो के विस्तार मे लाए गए समस्त संदर्भों एव सम्बन्ध-सूत्रो के बीच श्रद्धा विषयक विचार-शृंखला कहीं छूटती या टूटती नहीं, वह उन सबके बीच से गुजरती हुई अपने मूल विवेच्य श्रद्धा को बराबर पकड़े रहती है ।

इसी प्रकार, पृ॰ 22 पर श्रद्धा के प्रकार बताए गए हैं, तीन--प्रतिभा सम्बन्धिनी, शील सम्बन्धिनी और साधन-सम्पत्ति सम्बन्धिनी । एक-एक विस्तृत पैरा में इन तीनों की क्रम-क्रम से चर्चा की जाती है । इसके बाद पहले प्रकार--प्रतिभा सम्बन्धिनी श्रद्धा के बारे मे पहले पैरा मे उठाए गए विचार-सूत्रों को फिर पकड़ लिया जाता है और उनको तीसरे प्रकार मे जोडकर कारीगरी, चित्रकारी, संगीत और शारीरिक बल के बारे में उन सूत्रों को पुनः अग्रसर किया जाता है । इसके बाद संदर्भ बदल जाता है लेकिन तुरन्त बाद ही शील सम्बन्धी प्रतिभा के सूत्र को पुनः पकड़ लिया जाता है । तात्पर्य यह है कि विचार-सूत्रों के निर्वाह का अत्यंत सजग उपक्रम यहाँ लक्षित होता है ।

इस प्रक्रिया मे वस्तु के आयाम में अनेकमुखता आती है, उसमें प्रसार और विस्तार आता है पर वह विसम्बद्ध या बेतरतीब नहीं हो जाती । लेखक उसको एक विधागत व्यवस्था और प्रारूप के अतर्गत संघटित करता है । उसका प्रतिपादन भी निर्भ्रान्त, स्पष्ट और वैज्ञानिक रहता है । वह तर्क, प्रमाण, दृष्टांत, उदाहरण, स्वानुभव, लोकानुभव आदि के माध्यम से उसको पुष्ट और समर्थित करता चलता है ।

तर्क से अपनी बात की पुष्टि का उदाहरण द्रष्टव्य है--

''मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने मे अशी का अधिक अंश समझता है--उस सर्वात्मा का अधिक अश समझता है--विश्वविधान जिसकी नित्य क्रिया है । अंत:स्थिति रक्षा-विधान की जो-जो बातें अपने में हैं, उनका अभाव उससे अशी या सर्व में मानते नहीं बनता । दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा मे देखते हुए सर्वात्मा में उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे ?[1]

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 38-39

दृष्टान्त से अपनी बात की पुष्टि का उदाहरण देखें--

" . हम अपने स्थिति-रक्षा सम्बन्धो भावो को परमावस्था पर पहुँचा कर ही उस परम भावमय की भावना करेंगे । हम उसे (ईश्वर को) धर्ममय, प्रेममय, दयामय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप में मनुष्य जाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है । अत्याचारी से पीडित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है. । ये ही व्यवहार वह मनुष्यो के साथ भी करता है ।"[1]

सामान्यतया वस्तु-विवेचन में बीच-बीच में पर कभी-कभी प्रसंग विशेष के अतगत एक ही पैरा मे भी शुक्ल जी विचार के साथ भाव को, वस्तु के साथ व्यक्तित्व को एक सूत्र में पिरोकर उसको सुसम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत करते चलते हैं । उदाहरण के लिए, प्रस्तुत निबन्ध में एक स्थान पर यह विचार रखा गया है-- "दूसरों की श्रद्धा संसार मे एक अन्यत वाञ्छनीय वस्तु है, क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है . जो दूसरो की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है उसके लिए फूलो की पखुडियाँ बिछाई जाती हैं ।"[2]

इस विचार के साथ इसी तारतम्य मे और इसी पैरा मे आचार्य शुक्ल के भाव और व्यक्तित्व व्यंजक उद्गार भी पिरोये हुए मिलते हैं--"समाज मे ये वस्तुएँ सच्चे गुणियो और परोपकारियो के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक मे बहुत से चोर-चाई और लुटेरे रहते है जो इनके द्वारा स्वार्थ साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं । इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए--इन्हें सामाजिक दण्ड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए । ये अनेक रूपो में दिखाई पडते हैं--कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है तो कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है ।"[3]

यह सब आचार्य शुक्ल के प्रकाण्ड पांडित्य और वैदुष्य को भी प्रकट करता है ।

इस प्रकार विषय और व्यक्तित्व, विचार और भाव के समुचित मेल से वे अपनी निबन्ध-कला को अंजाम देते चलते हैं । उनके निबधो मे लेखक अपनी पूरी मानसिक सत्ता के साथ प्रवृत्त होता है ।

जैसा कि कहा गया, वस्तु के वैशिष्ट्य और अर्थ के वैचित्र्य के साथ भाषा-शैली और अभिव्यजना-प्रणाली गत वैचित्र्य एव वैशिष्ट्य का भी अनिवार्यतया सद्भाव होता है । वैसे भी, विचार एव विषय-प्रधान गभीर निबध का अपना एक औपचारिक विधागत रूप और अपनी एक मानक भाषा-शैली एव अभिव्यजना-प्रणाली होती है ।

प्रस्तुत निबन्ध मे आचार्य शुक्ल खड़ी-बोली की अपनी निजी प्रकृति के साथ अत्यन्त परिष्कृत, मँजी हुई और उच्च कोटि के तत्सम बहुल भाषा का आधार रूप में प्रयोग करते

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 39

2 वही पृ॰ 27

3 वही, पृ॰ 28

नाना प्रकार के सम्बद्ध प्रश्न नये-नये रूपो में विज्ञ पाठक के मन मे उभर सकते हैं और पाठक की बुद्धि को नयी विचार-पद्धति पर दौड़ा सकते है ।

ये सब तत्त्व मिलकर निबन्ध-कला के आदर्श रूप की सिद्धि करते हैं और 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक निबन्ध को एक श्रेष्ठ निबन्ध बना देते है । इन तत्त्वों से पुष्ट यह निबन्ध पाठक को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि प्रतीत होता है ।

परन्तु निबन्ध की श्रेष्ठ कलात्मक सिद्धि के लिए विचार-शृंखला की अविच्छिन्नता-अखण्डता, विचार-सूत्रों का निर्वाह, पूर्वापर क्रमबद्धता, वस्तु की सुसम्बद्ध-सुसघटित प्रस्तुति, निर्भ्रान्त वैज्ञानिक प्रतिपादन आदि भी सर्वथा आवश्यक हैं ।

प्रस्तुत निबन्ध इन सब तत्त्वों से भी पुष्ट है । उदाहरण के लिए, निबन्ध का प्रारम्भ पृष्ठ सत्रह पर 'श्रद्धा' के विवेचन-विश्लेषण से किया गया है । इस क्रम में बीसियो भिन्न-भिन्न संदर्भ और सम्बन्ध-सूत्र उठाते-जोड़ते आचार्य शुक्ल श्रद्धाविषयक विवेचन को पृष्ठ संख्या बत्तीस तक ले चलते हैं । यहाँ उल्लेख्य है कि इन मध्यवर्त्ती सोलह-सत्रह पृष्ठों के विस्तार में लाए गए समस्त सदर्भों एव सम्बन्ध-सूत्रों के बीच श्रद्धा विषयक विचार-शृंखला कहीं छूटती या टूटती नहीं, वह उन सबके बीच से गुजरती हुई अपने मूल विवेच्य श्रद्धा को बराबर पकडे रहती है ।

इसी प्रकार, पृ० 22 पर श्रद्धा के प्रकार बताए गए हैं, तीन--प्रतिभा सम्बन्धिनी, शील सम्बन्धिनी और साधन-सम्पत्ति सम्बन्धिनी । एक-एक विस्तृत पैरा में इन तीनो की क्रम-क्रम मे चर्चा की जाती है । इसके बाद पहले प्रकार--प्रतिभा सम्बन्धिनी श्रद्धा के बारे मे पहले पैरा मे उठाए गए विचार-सूत्रों को फिर पकड लिया जाता है और उनको तीसरे प्रकार से जोड़कर कारीगरी, चित्रकारी, संगीत और शारीरिक बल के बारे मे उन सूत्रो को पुनः अग्रसर किया जाता है । इसके बाद संदर्भ बदल जाता है लेकिन तुरन्त बाद ही शील सम्बन्धी प्रतिभा के सूत्र को पुनः पकड़ लिया जाता है । तात्पर्य यह है कि विचार-सूत्रों के निर्वाह का अत्यत सजग उपक्रम यहाँ लक्षित होता है ।

इस प्रक्रिया मे वस्तु के आयाम में अनेकमुखता आती है, उसमे प्रसार और विस्तार आता है पर वह विसम्बद्ध या बेतरतीब नहीं हो जाती । लेखक उसको एक विधागत व्यवस्था और प्रारूप के अंतर्गत सघटित करता है । उसका प्रतिपादन भी निर्भ्रान्त, स्पष्ट और वैज्ञानिक रहता है । वह तर्क, प्रमाण, दृष्टांत, उदाहरण, स्वानुभव, लोकानुभव आदि के माध्यम से उसको पुष्ट और समर्थित करता चलता है ।

तर्क से अपनी बात की पुष्टि का उदाहरण दृष्टव्य है--

"मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने में अंशी का अधिक अंश समझता है--उस सर्वात्मा का अधिक अंश समझता है--विश्वविधान जिसकी नित्य क्रिया है । अंत:स्थिति रक्षा-विधान की जो-जो बातें अपने में हैं, उनका अभाव उससे अंशी या सर्व में मानते नहीं बनता । दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा में देखते हुए सर्वात्मा में उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे ?[1]

---

1 चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० 38-39

दृष्टान्त से अपनी बात की पुष्टि का उदाहरण देखें--

" हम अपने स्थिति-रक्षा सम्बन्धी भावो को परमावस्था पर पहुँचा कर ही उस परम भावमय की भावना करेंगे। हम उसे (ईश्वर को) धर्ममय, प्रेममय, दयामय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप मे मनुष्य जाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है। अत्याचारी से पीडित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है । ये ही व्यवहार वह मनुष्यो के साथ भी करता है।"[1]

मामान्यतया वस्तु-विवेचन में बीच-बीच में, पर कभी-कभी प्रसग विशेष के अंतगत एक ही पैरा में भी शुक्ल जी विचार के साथ भाव को, वस्तु के साथ व्यक्तित्व को एक सूत्र मे पिरोकर उसको सुसम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत करते चलते हैं। उदाहरण के लिए, प्रस्तुत निबन्ध में एक स्थान पर यह विचार रखा गया है-- "दूसरो की श्रद्धा संसार मे एक अत्यत वाञ्छनीय वस्तु है, क्योकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है जो दूसरो की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है उसके लिए फूलो की पंखुड़ियाँ बिछाई जाती है ।"[2]

इस विचार के साथ इसी तारतम्य मे और इसी पैरा मे आचार्य शुक्ल के भाव और व्यक्तित्व व्यंजक उद्‌गार भी पिरोये हुए मिलते है--"समाज मे ये वस्तुएँ सच्चे गुणियो और परोपकारियो के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक मे बहुत से चोर-चाई और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियो को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए--इन्हे सामाजिक दण्ड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपो में दिखाई पडते हैं--कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है तो कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।"[3]

यह सब आचार्य शुक्ल के प्रकाण्ड पाडित्य और वैदुष्य को भी प्रकट करता है।

इस प्रकार विषय और व्यक्तित्व, विचार और भाव के समुचित मेल मे वे अपनी निबन्ध-कला को अंजाम देते चलते हैं। उनके निबंधों में लेखक अपनी पूरी मानसिक सत्ता के साथ प्रवृत्त होता है।

जैसा कि कहा गया, वस्तु के वैशिष्ट्य और अर्थ के वैचित्र्य के साथ भाषा-शैली और अभिव्यंजना-प्रणाली गत वैचित्र्य एव वैशिष्ट्य का भी अनिवार्यतया सद्‌भाव होता है। वैसे भी, विचार एवं विषय-प्रधान गंभीर निबंध का अपना एक औपचारिक विधागत रूप और अपनी एक मानक भाषा-शैली एव अभिव्यंजना-प्रणाली होती है।

प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य शुक्ल खडी-बोली की अपनी निजी प्रकृति के साथ अत्यन्त परिष्कृत, मँजी हुई और उच्च कोटि के तत्सम बहुल भाषा का आधार रूप मे प्रयोग करत

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ० 39

2 वही, पृ० 27

3 वही, पृ० 28

हैं, यथा--"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय मे भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि में आनन्द का अनुभव होने लगे--जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति-रस का संचार समझना चाहिए।"[1]

अभिव्यक्ति की विविधि युक्तियों और प्रविधियों से लैस होकर प्रस्तुत निबन्ध की भाषा बड़ी वैचित्र्यपूर्ण, चमत्कारपूर्ण और समर्थ बन जाती है।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है आचार्य शुक्ल अपने निबन्ध-लेखन के तहत एक शीर्षस्थ मौलिक शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनकी निबंध-शैली प्रौढ़, सुगठित और प्रभावशाली है।

शैली के कतिपय परम्परागत रूप-विधायक और वैशिष्ट्य-विधायक तत्त्व हैं, जैसे--क्रम, संगति, शब्द-चयन, पद-योजना, वाक्य-रचना, अन्विति, संगठन, अलंकरण, प्रतीक, बिंब-विधान मुहावरे-लोकोक्ति आदि। कतिपय परम्परागत शैलियाँ भी हैं, जैसे आगमन-निगमन, समास-व्यास, आत्मीयतापूर्ण, भावुकतापूर्ण, हास्य-व्यंग्यपूर्ण संवाद या वार्त्तालाप शैली आदि।

आचार्य शुक्ल के इन निबन्धों में ये सब तत्त्व और रूप तो हैं ही, बहुत से नये और मौलिक रूप एवं उपकरण भी उपलब्ध होते हैं; जैसे--सूत्रात्मकता, लाक्षणिकता, छेड़-छाड़, चुटकी, फब्ती, लालित्य, व्यक्तिगत जीवन के संस्मरण, प्रथम का पुरुष प्रयोग आदि।

ये सब मिलकर आचार्य शुक्ल जी निबन्ध-शैली को निश्चय ही विशिष्ट और असाधारण बना देते हैं और लेखक को शीर्षस्थ शैलीकार के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वचन-भंगिमा की रोचकता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता, व्यक्तित्व व्यंजक अशों की मुखर सजीवता और व्यंग्य-विनोद की सरसता से पुष्ट ये निबंध पाठक को बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित और प्रेरित करते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में प्रयुक्त तत्सम शब्दावली बहुल, वैचारिक गंभीरता से पुष्ट परिष्कृत और अनुशासित भाषा, विचारों की तर्कपूर्ण गुढ़-गुंफित शैली आदि की चर्चा की जा चुकी है। वैचारिक गांभीर्य के शुष्क बीहड़ों के बीच व्यक्तित्व व्यंजक सरस स्थलों की चर्चा भी ऊपर की गई है। विषय की गंभीरता और पाठकीय ग्राह्यता की अपेक्षाओं के कारण इस प्रकार के निबन्धों मे समास और व्यास दोनों शैलियो का प्रयोग किया जाता है तथा आगमन और निगमन दोनों पद्धतियाँ भी अपनायी जाती हैं।

विचार और विषय-प्रधान निबन्ध में जहाँ विचारों की सघन कसावट होती है, जहाँ प्रत्येक पैरा मे विचार ठूँस-ठूँस कर भरे जाते हैं, वहाँ बातें अति संक्षेप मे प्रस्तुत की जाती हैं। लेखक के पास प्रस्तुत करने के लिए विचारों का इतना जबर्दस्त भण्डार होता है कि उसे बहुत चुस्त भाषा एवं अति सघन रूप मे अपनी बातों को प्रस्तुत करना अनिवार्य हो जाता है। इसके लिए समास शैली की आवश्यकता पड़ती है।

---

1 चिंतामणि, पहला भाग पृ० 32-33

प्रस्तुत निबन्ध इसी प्रकार का विचारो की सघन कसावट वाला निबध है । अतः यहाँ भी समास शैली का उपयोग किया गया है । शाब्दिक दृष्टि से दो शब्दों को जोड़ना समास कहलाता है । व्यावहारिक रूप में यह शैली भाव सक्षेपीकरण से युक्त सूत्रात्मक बन जाती है । 'सूत्र' शैली आचार्य शुक्ल के इन सभी निबन्धो की अत्यधिक आकर्षक, विशिष्ट, मौलिक और महत्त्वपूर्ण शैली है । विषय की प्रभावी, सघन और समग्र प्रस्तुति के लिए प्रस्तुत निबन्ध मे यह शैली अनेक रूपो में प्रयुक्त मिलती है । उदाहरण के लिए, कहीं विचार विशेष को सूत्र रूप में सीधे प्रस्तुत करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है, यथा--"कर्त्ता से बढकर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं", कहीं दो मनोविकारों मे भेद और तारतम्य प्रदर्शक सूत्र के रूप मे इसका प्रयोग हुआ है, यथा--"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण" अथवा "वैर का आधार व्यक्तिगत होता है श्रद्धा का सार्वजनिक", तो कहीं यह शैली विचारों को 'सूक्ति' के रूप में प्रस्तुत करने में प्रयुक्त हुई है, "शील या धर्म से ही समाज की स्थिति है ।"

'सूक्ति' कोई सामान्य कथन नहीं है । उसमें लोकनिरीक्षण और व्यापक एव सुदीर्घ जीवनानुभव का सार अति संक्षेप में चमत्कारपूर्ण एवं अनूठे ढंग से व्यक्त होता है । अतः सूक्ति लेखकीय निपुणता के अतिरिक्त भाषा की महत् शक्ति-सामर्थ्य की भी व्यजक होती है ।

आचार्य शुक्ल की अति प्रसिद्ध सूत्रात्मक परिभाषाओ मे भी यही सामासिक शैली प्रयुक्त की गई है, यथा--"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है" अथवा "विद्वत्ता किसी विषय की बहुत-सी बातो की जानकारी का नाम है ।"

आचार्य शुक्ल द्वारा समास शैली का यह अनेकविध प्रयोग, भाव या विचार को गहरे स्तर पर आत्मसात करते हुए उसे अति सक्षिप्त, सुसम्बद्ध, समर्थ सूत्र मे ढालकर प्रस्तुत करना निश्चय ही उनकी भावन-प्रतिभा और अभिव्यक्ति क्षमता का व्यजक है । ये सूत्र उनकी निबध-कला की विशिष्ट एवं आकर्षक पहचान बन जाते हैं । इन सूत्रों के विधान की पृष्ठभूमि मे निहित लेखक का व्यापक जीवनानुभव, गहन-चिंतन-मनन, विशद लोक निरीक्षण और दृढ़ आत्मविश्वास इनको बहुत प्रभावशाली बना देता है ।

प्रस्तुत निबन्ध में समास शैली का आगमन और निगमन पद्धतियों मे समन्वय किया गया है । आचार्य शुक्ल तर्कशास्त्र के पंडित थे । वे समझते थे कि क्रमरहित तर्क और तर्करहित क्रम शिथिल होता है । अतएव, उनकी निबन्ध कला मे भावों एवं विचारों की प्रस्तुति में क्रम, अन्विति, तर्कबद्धता आदि के प्रति पूरी सजगता लक्षित होती है । कभी वे विषय को विस्तार में प्रस्तुत करके बाद मे उसका सक्षेप या सारांश बता देते हैं--यह आगमन पद्धति होती है और कभी वे सारांश या विचार-सूत्र पहले प्रस्तुत करके बाद मे उसकी व्याख्या कर देते हैं-यह निगमन पद्धति है ।

प्रस्तुत निबन्ध मे आगमन शैली का एक अच्छा उदाहरण श्रद्धा और प्रेम के प्रसंग मे उपलब्ध है ।[1] पहले शुक्ल जी इन दोनो भावो की पर्याप्त विस्तार से व्याख्या-विवेचना करते हैं ।[2] तदनंतर वे उस सारे विवेचन-व्याख्यान का सारांश अति सक्षेप में, सामासिक रूप मे

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ 17-20

2 लगभग ढाई पृष्ठों मे

इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं--"सारांश यह है कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरे में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।"[1]

आचार्य शुक्ल की उल्लिखित महत्त्वपूर्ण समन्वयात्मक-व्याख्यात्मक शैली का एक बहुत अच्छा उदाहरण इस प्रकार है--

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।"

(क) जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय मे भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।

(ख) जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि में आनन्द होने लगे--जब उससे सम्बन्ध रखने वालो श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति रस का संचार समझना चाहिए।

(ग) जब श्रद्धेय का उठना-बैठना, चलना-फिरना, हँसना-बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे, तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए।

(घ) भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन-क्रम का थोडा या बहुत अंश उसे अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और उसके जीवन-क्रम पर भी अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं और कभी याचना करते हैं।

सारांश यह है कि "भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं--उसकी सत्ता में विशेष रूप मे योग देना चाहते है।"[2]

यहाँ आप देखें कि पहले सूत्र रूप में भक्ति की एक परिभाषा प्रस्तुत की गई है। यह समास शैली का एक रूप हुआ।

फिर चार भिन्न-भिन्न रूपों--(क), (ख), (ग), (घ)--में भक्ति के भिन्न-भिन्न लक्षण प्रस्तुत करके भक्ति के स्वरूप की व्याख्या की गई है। यह व्यास शैली का एक रूप हुआ और निगमन पद्धति हुई। तदनन्तर व्याख्यासहित समस्त सामग्री का सारांश प्रस्तुत कर दिया गया है। यह आगमन पद्धति हुई।

आगमन शैली के और भी कई श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत निबंध मे लक्षित किए जा सकते हैं।[3]

विचारों की प्रस्तुति और पाठक की ग्राह्यता की दृष्टि के अतिरिक्त विषय को शक्तिशाली

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ० 19
2 वही, पृ० 32-33
3 वही, पृ० 35-39

ढग से प्रतिपादित करने, पाठकों से अपने विचार स्वीकार करवा लेने और मनवा लेने की दृष्टि से भी यह शैली-समवाय विशेष उपयोगी है। क्रम और तर्कपूर्वक विचारों की प्रस्तुति का एक लाभ यह होता है कि पाठक उनको अस्वीकार करने अथवा उनका खण्डन करने का दु:साहस नहीं कर पाता। लेखक के विचारों को समर्पण भाव से स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य उपाय नहीं रहता। शुक्ल जी का आत्मविश्वास इस सदर्भ मे अतिरिक्त कारगर भूमिका अदा करता है। ये सब तत्त्व प्रस्तुत निबन्ध को कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठता प्रदान करते हैं।

विषय की प्रस्तुति और प्रतिपादन के संदर्भ मे प्रस्तुत निबन्ध की कतिपय अन्य विशेषताओ का उल्लेख आवश्यक है। विवेच्य विषय और प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण के लिए शुक्ल जी उदाहरण तो देते ही हैं--यह उनकी विषय-प्रतिपादन-शैली और निबंध-कला का अनिवार्य अग है--पर कभी-कभी वे एक साथ दो-दो उदाहरण भी रख देते हैं।[1] प्रस्तुत निबध में एकाधिक बार वे दो से भी अधिक उदाहरण एक साथ देकर--उदाहरणो की एक पूरी शृंखला प्रस्तुत करके--विषय को स्पष्ट करते हैं।[2]

उदाहरणों के प्रसग मे एक विशेष स्थिति यह है कि शुक्ल जी उदाहरणो में आये हुए संदर्भों का भी स्पष्टीकरण करते हैं। जैसे एक उदाहरण मे पहले 'विद्वान' की चर्चा आती है। तदनन्तर शुक्ल जी विद्वान का अर्थ समझाने के लिए ''विद्वत्ता' की व्याख्या करके उसको स्पष्ट करते हैं।[3]

प्रस्तुत निबन्ध में उपलब्ध प्रतिपादन-शैली के एक अन्य विशेष रूप के अतर्गत शुक्ल जी पहले अपना एक विशिष्ट अनुभव एव पर्यवेक्षण प्रस्तुत करते हैं। इस अनुभव की पुष्टि के लिए एक नहीं, दो-दो उदाहरण देते हैं, और फिर इन उदाहरणो की भी पुष्टि के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं; यथा--

''यद्यपि श्रद्धान्ध, समाज में उतना अनर्थकारी नहीं हो सकता जितना पदान्ध, क्रोधान्ध या ईर्ष्यान्ध; पर उसकी श्रद्धा के बढ़ते-बढते क्रियमाण रूप धारण करने पर और शील सम्बन्धिनी चेतना को बिल्कुल जवाब मिल जाने पर समाज के अनिष्ट मे ब्याज से सहायता पहुँच सकती है।''[4]

यह शुक्ल जी का अपना अनुभव है। इसको पुष्ट करने के लिए उदाहरण है--

''यदि किसी अपव्ययी और मद्यप कवि पर अत्यत श्रद्धालु होकर कोई उसकी आर्थिक सहायता करता जाता है तो वह उस अन्याय और उपद्रव का थोडा-बहुत उत्तरदाता अवश्य होता है जो कवि जी अपने सहवर्तियो के बीच करने में समर्थ होते हैं।''[5]

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 25, 28
2 वही, पृ॰ 26
3 वही, पृ॰ 25, 26
4 वही, पृ॰ 26-27
5 वही, पृ॰ 27

फिर एक और उदाहरण है ।

फिर इन उदाहरणों के समर्थन के लिए तर्क--

''उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि इन दोनो श्रद्धालुओ पर दोष उतना सटीक नहीं लग सकता, पर समाज की दृष्टि में वे पात्रता-सम्बन्धी अविवेक के अभियोग से नहीं बच सकते ।''[1]

उदाहरणों और तर्कों की इस जबर्दस्त किलेबंदी के बाद पाठक के पास समर्पण भाव से शुक्ल जी के प्रतिपाद्य को स्वीकारने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं रहता ।

पाठक से आत्मीयता स्थापित करते हुए विषय-बोध को सुकर तथा प्रतिपाद्य को सुग्राह्य बनाने की दृष्टि से शुक्ल जी ने प्रस्तुत निबंध मे सवाद-शैली, वार्त्तालाप शैली[2] के प्रयोग के अतिरिक्त 'सच पूछिये तो'[3], 'बात यह है कि .'[4], 'हम देखते हैं कि '[5], 'हमें ध्यान हुआ'[6], 'हम करते जायँगे'[7], आदि, 'ऊपर कहा जा चुका है कि . '[8], 'अब रह गई. . . श्रद्धा की बात'[9], 'समझने की बात है कि '[10], 'अब भगवद्भक्ति को लीजिए'[11], आदि पदावली का प्रयोग भी करते हैं ।

वाक्यों में बार-बार 'हम' सर्वनाम का प्रयोग करते हुए विषय से और पाठक से भी सघन आत्मीयता स्थापित कर लेना शुक्ल जी की निजता और उनकी शैली का वैशिष्ट्य है । यह शैली प्रस्तुत निबध में अनेक स्थानो पर प्रयुक्त हुई है, यथा--

''यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बडा वीर . . . . बडा धर्मात्मा है, तो वह हमारे आनन्द का विषय हो जायगा । हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे . . , हम सदा उसका भला चाहेंगे . . . ।''[12]

प्रस्तुति एवं शैली की रोचकता तथा विषय की सुग्राह्यता के निमित्त शुक्ल जी अनुप्रासमय शैली का भी प्रयोग करते हैं, और यह उनकी निबन्ध कला का वैशिष्ट्य है, यथा--

''हम हैं, हम समझते हैं और हम चाहते हैं कि हम रहे, ऐसी अवस्था में हम अपनी

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 27
2 वही, पृ॰ 28-35
3 वही, पृ॰ 18
4 वही, पृ॰ 19
5 वही, पृ॰ 20
6 वही, पृ॰ 21
7 वही, पृ॰ 20
8 वही, पृ॰ 31
9 वही, पृ॰ 23
10 वही, पृ॰ 19
11 वही, पृ॰ 37
12 वही, पृ॰ 17

स्थिति-रक्षा-सम्बन्धी भावो को परमावस्था पर पहुँचाकर ही परम भावमय की भावना करेंगे। हम उसे धर्ममय, दयामय, प्रेममय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप मे उसका व्यवहार मनुष्य जाति में दिखाई पड़ता है . . . . !''[1] अथवा-- ''पर जब कि इस युग मे ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म बिकता है--तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न विके ?''[2]

संस्कृत सूक्ति और लोकोक्तिमय शैली भी शुक्ल जी की विशिष्ट शैली है; यथा--

''अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने भावो का सामंजस्य ढूँढता है तो नहीं पाता है--कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धात चलता दिखाई पडता है, कहीं लाठी और भैंस का।''[3]

उल्लेख किया जा चुका है कि शुक्ल जी उदाहरण अवश्य देते हैं। उदाहरणो में अक्सर कविताएँ या पद्यांश भी उद्धृत करते हैं। यह पाया गया है कि वे प्रायः मध्यकालीन कवियो और रचनाओं के उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। रसखान भी उनके एक प्रिय कवि हैं।[4]

उदाहरणों मे अक्सर मुहावरे और पौराणिक संदर्भ भी आते रहते हैं; यथा--

''जिस पर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते है--उसे या तो काँटो पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना होता है।''[5]

वैसे, मुहावरे-लोकोक्तियों का यथास्थान सटीक और प्रभावी प्रयोग आचार्य शुक्ल की निबन्ध-कला की एक सामान्य विशेषता है।

पौराणिक संदर्भ--''संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म मे तत्पर कौरवो का नाश न होता और पाडव जीवन भर मारे-मारे ही फिरते तो संसार मे अधर्म और अन्याय की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाये न मिटती।''[6]

वस्तु और विषय के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल अपनी भाषा-शैली और अभिव्यंजना-प्रणाली मे भी लेखकीय व्यक्तित्व, आत्मतत्त्व, व्यक्तिगत विशेषता, हार्दिक भावें आदि का सन्निवेश करके निबन्ध-कला के उत्कर्ष की प्रतिष्ठा करते हैं।

इसकी सिद्धि अनेक रूपों और युक्तियों से होती है। उदाहरण के लिए, प्रस्तुत निबध मे वे 'मैं' शैली का प्रयोग करके आत्माभिव्यक्ति का अवसर निकालते हैं, यथा--

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 39
2 वही, पृ॰ 30
3 वही, पृ॰ 38
4 वही, पृ॰ 41
5 वही, पृ॰ 27
6 वही पृ॰ 37

''एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं--इतना लो तो लें।''[1]

आप देखेंगे कि यहाँ 'मैं' शैली का प्रयोग करके 'वैयक्तिकता' का सद्‌भाव तो किया ही गया है, व्यक्तिगत जीवन के संस्मरण देकर बौद्धिकता और वैदुष्य से बोझिल निबंध के वातावरण को हलका और सरस भी बनाया गया है।

विशेष उल्लेख्य वह ललित-सरस व्यक्तित्व व्यंजक शैली है जो सहज आनंददायी होती है, और है; यथा--''जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान शक्ति-केन्द्र का उदय होता है उस समाज के भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ कामनाएँ मेघ-खण्डों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि इनकी घटा-सी उमड पड़ती है और मगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।''[2]

कभी-कभी शुक्ल जी की भावावेशमय शैली भावविभोरतामय बन जाती है, यथा--

''उसके हृदय में जो सौंदर्य का भाव है, जो शील का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है उसे वह अत्यंत पूर्ण रूप में परमात्मा मे देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्‌गद् हो जाता है और उसका धर्मपथ आनन्द से जगमगा उठता है।''[3]

प्रस्तुत निबंध में स्थान-स्थान पर उपस्थित किए गए उदाहरणों और दृष्टांतों में भी निबध-लेखक की निजता व्यक्त होती है।[4]

भाषा-शैली के उल्लिखित सर्जनात्मक रूपो के अतिरिक्त प्रस्तुत निबंध मे शैली की लाक्षणिकता, अमूर्त भावों, बिंब-विधान आदि सौंदर्य विधायक उपकरणों एवं युक्तियों का उपयोग किया गया मिलता है; यथा--

''श्रद्धालुओं के अतःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-स्वान के गले से भी इस लंबी कवायद को ठीक उतरते देख उनके मुँह से 'वाह-वाह', 'ओ हो-हो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालंकार का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया . . . । यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को पीलपाँव! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार की तलवार की-सी हो गई।''[5]

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 28
2 वही, पृ॰ 18
3 वही, पृ॰ 40
4 वही, पृ॰ 28, 34
5 वही, पृ॰ 25

स्वस्थ-शिष्ट विनोदशीलता और जिदादिली शुक्ल जी के स्वभाव का सहज अग थी और यह उनकी निबध-शैली मे पूर्णत: प्रतिबिबित है । वास्तव में, विचार-विषय-प्रधान बौद्धिक निबधों मे विषय की गभीरता, लेखक के वैदुष्य और विवेचन के पांडित्य के कारण निबध के शुष्क एवं अरुचिकर हो जाने की आशंका रहती है । परन्तु प्रस्तुत निबंध में आचार्य शुक्ल व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास, चुटकी, छेड-छाड, फबती, कटाक्ष आदि विविध युक्तियो का सार्थक एवं रचनात्मक प्रयोग करके प्रस्तुत आशंका का निराकरण तो कर ही देते हैं, निबध-कला के उत्कर्ष की सिद्धि भी करते हैं ।

विनोदपूर्ण हास्य का एक अच्छा उदाहरण दृष्टव्य है--"संगीत के पेच-पाँच देखकर भी हठयोग याद आता है । जिस समय कोई कलावत पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ-आ' करके विकल होता है उस समय बडे-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है--दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियो का आसन डिग जाता है ।"[1]

व्यग्य का उदाहरण दृष्टव्य है--"समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियो और परोपकारियो के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर-चाई और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं . ये अनेक रूपों मे दिखाई पडते हैं । कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डका पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है ।"[2]

वक्रोक्तिपूर्ण व्यंग्य और चुहलबाजी का उदाहरण देखें--"जैसे और सब विद्याओ की वैसी ही पर-श्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है । आश्चर्य नहीं कि इसके लिए कुछ दिनो में एक अलग विद्यालय खुले । श्रद्धा के यथार्थ कारण का जितना ही अभाव हो, आकर्षक को अपनी विद्या में उतना ही दक्ष समझना चाहिए । आजकल सार्वजनिक उद्योगो की बडी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार व्रत करते सुने जाते हैं ।"[3]

ध्यान देने की बात है कि इस सरस-रोचक शैली का प्रयोग कोई मनोविज्ञानशास्त्री अपने लेखन-क्रम मे कभी नहीं करेगा । यह शुक्ल जी की विशिष्ट आत्माभिव्यंजक शैली है और इसी से यह सिद्ध है कि प्रस्तुत निबंध मनोविकार विषयक होते हुए भी शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबध नहीं है ।

व्यंग्य या छेड़-छाड़ के लिए शुक्ल जी अपनी विशिष्ट शब्दावली भी बना लेते हैं, जैसे--'खर-स्वान[4], श्रद्धान्ध[5], हमीं-हम वाले[6], परश्रद्धाभिलाषी[7] आदि ।

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 18
2 वही, पृ॰ 28
3 वही, पृ॰ 28-29
4 वही, पृ॰ 24
5 वही, पृ॰ 26
6 वही, पृ॰ 35
7 वही, पृ॰ 29

प्रस्तुत संदर्भ मे शुक्ल जी की व्यग्य-विद्रूप शैली का उदाहरण भी दृष्टव्य है, यथा--"ऐसे पर-श्रद्धाभिलाषियो को मानसिक दुर्व्यसन रहता है ओर वे उसी प्रकार दुर्व्यसनी कहे जा सकते हैं जिस प्रकार शराबी, गॅजेडी और चण्डूबाज आदि ।"[1]

केवल प्रस्तुत निबंध का ही नहीं, शुक्ल जी के मनोविकार विषयक सभी दसों निबधो के लेखन के कतिपय निश्चित प्रयोजन हैं जिनकी विस्तारपूर्वक चर्चा प्रस्तुत पुस्तक मे एक स्वतंत्र शीर्षक के अंतर्गत की जा चुकी है ।[2] कृपया इसको वहीं देखें ।

इस प्रकार, आचार्य शुक्ल की यह 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक रचना निबंध के मूल विधायक तत्त्वों--गद्य माध्यम, औसत आकार, सीमित विषय, लेखकीय व्यक्तित्व, सुसम्बद्ध व्यवस्थित विवेचन, प्रौढ-समर्थ-सुगठित भाषा-शैली और प्रयोजन का आधार ग्रहण करती है तथा स्वय लेखक द्वारा निर्दिष्ट श्रेष्ठ निबन्ध की विकट कसौटी पर भी खरी उतरकर निबंध-कला का आदर्श प्रस्तुत करती है ।

लोभ और प्रीति

यह आचार्य शुक्ल का एक विषय-प्रधान साहित्यिक-सामाजिक निबन्ध है । इसमें दो मनोविकारों का एक युग्मक के रूप में विवेचन किया गया है । विषय-प्रधान निबन्ध की कला के आदर्श के अनुसार प्रस्तुत निबन्ध में लेखक की एकाग्रता का केन्द्र विवेच्य विषय है, उसका लक्ष्य और आधार प्रतिपाद्य है ।

निबन्ध-कला की दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबधो मे सर्वश्रेष्ठ है । इसमे लेखक का निबन्ध-कौशल अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में उपलब्ध होता है ।

मनोविकार विषयक निबंधों की अपनी विशिष्ट लेखन-शैली के अनुसार आचार्य शुक्ल सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक संदर्भों से जुडते हैं । वे सबसे पहले 'लोभ' की परिभाषा देते हैं, यथा--"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध मे मन की ऐसी स्थिति को जिसमे उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पडे, लोभ कहते हैं ।"[3]

विवेचन को अग्रसर करते हुए वे क्रमश: लोभ के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनो पक्षों का विवरण देते हैं, लोभ के विविध रूप बताते हैं, व्यक्ति के लोभ और वस्तु के लोभ की चर्चा करते हुए दोनों का वैशिष्ट्य और तारतम्य निरूपित करते हैं । लोभ के विविध लक्षण बताते हैं, यथा--"दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते ।"... "लोभ सामान्योन्मुख होता है, प्रेम विशेषोन्मुख । कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है ।"[4]

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 29

2 वही, पृ॰ 21 से 24 तक

3 वही, पृ॰ 69

4 वही पृ॰ 69

विषय के आयाम का विस्तार करते हुए आचार्य शुक्ल अब 'प्रेम' पर आते हैं और सबसे पहले उसके लक्षण बताते हैं । फिर लोभ की चर्चा पर लौटकर उसके विविध अवयवो और उसके प्रभाव की चर्चा करते हैं ।

प्रस्तुत सदर्भ में वे एकाध सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख करते हैं· यथा--

"लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है--किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना; अतः वह आनन्दस्वरूप है । इसी मे किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है । पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती । कोई वस्तु हमे बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनन्द मिला, इतने ही पर दुनिया मे नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया । जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का सयोग होगा . . तभी हमारा लोभ लोगो पर खुलेगा ।"[1]

यहाँ यह दृष्टव्य है कि मनोवैज्ञानिक तथ्य की परीक्षा मनोविज्ञानशास्त्र के आधार पर नहीं बल्कि 'दुनिया' के आधार पर करते हैं ।

तदनंतर लोभी शब्द का साधारण अर्थ बताया जाता है । कुछ आगे चलकर उसका विशेष अर्थ भी बताया जाता है । 'प्रिय' वस्तु के सम्बन्ध मे इच्छा के भेद बताये जाते हैं । लोभ के विषय बताए जाते हैं । प्रीति, प्रेम और रुचि में तारतम्य प्रदर्शन तो पहले ही किया जा चुका है, अब रुचि के लक्षण भी बताए जाते हैं । इसी क्रम में जन्म-भूमि और देश-प्रेम के स्वरूप का निरूपण भी किया जाता है ।

आगे शुक्ल जी लोभ की तुलना अन्य मनोवेगों मे करते है । उदाहरण के लिए, प्रेम से उसकी तुलना करते हैं और इसको काफी विस्तार भी देते हैं । प्रेम के विविध पक्षो, उनके प्रभाव और स्वरूप को चर्चा करने मे विस्तार हो जाना स्वाभाविक हैं । इसी सदर्भ मे आचार्य शुक्ल वैयक्तिक स्वच्छंदता लेते हुए भारतीय प्रबन्धकाव्यों मे प्रेम-वर्णन की प्रवृत्ति के स्वरूप का निर्वचन करते हैं । फिर प्रेम और करुणा का संदर्भ लाते हैं और अंत में लोभ या प्रेम की 'सबसे बड़ी विलक्षणता'[2] का उल्लेख करते हुए वे प्रस्तुत निबन्ध का समापन करते हैं ।

आप देखेंगे कि उल्लिखित सारी चर्चा का केन्द्र विवेच्य मनोविकार-द्वय या सम्बद्ध तथ्य हैं और इन सबका विवेचन मनोवैज्ञानिक सदर्भों मे किया गया है । बीच-बीच में और भी तरह-तरह की बातो की चर्चा की गई है और उन सबका सदर्भ भी मनोवैज्ञानिक ही है । उदाहरण के लिए यह बताया-दिखाया गया है कि स्थिति-भेद से व्यक्ति विशेष पर मनोभाव विशेष की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है ।[3] विभिन्न श्रेणी के लोगो में भावविशेष भिन्न-भिन्न रूपों में मिलता है आदि । विवेच्य दोनों मनोविकार अथवा सम्बद्ध-सजातीय मनोविकार ही पूरे निबन्ध में चर्चा का केन्द्र बने रहते हैं । निबन्ध का लक्ष्य भी यही रहते हैं और

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ० 70

2 वही, पृ० 96

3 वही पृ० 89

आधार भी । परन्तु इनके विवेचन का आधार मनोविज्ञानशास्त्रीय नहीं होता, निबन्ध का लक्ष्य या प्रतिपाद्य मनोविज्ञानशास्त्रीय नहीं होता और इनके विवेचन की पद्धति भी भिन्नता लिए हुए होती है, अर्थात शास्त्रवत् वस्तुपरक एव निर्वैयक्तिक नहीं होती । शास्त्रकार की भाँति आचार्य शुक्ल प्रस्तुत निबन्ध में केवल एक मनोविज्ञान का सूत्र पकड कर सीधे प्रतिपाद्य की ओर सुनसान डगर पर बढते हुए नहीं चले जाते । वे विवेच्य विषय को अपने मानसिक सघटन और अपनी विशिष्ट मानसिक प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न विशिष्ट दृष्टियों से देखते हैं और अपनी रुचि के अनुसार इधर-उधर फैली हुई सम्बद्ध सूत्र-शाखाओं पर विचरण करते हुए अपने निबध-लेखन मे अग्रसर होते हैं । परिणामस्वरूप निबध मे विषय की प्रधानता के बावजूद भी व्यक्ति-सापेक्ष, अर्थ-वैचित्र्य उत्पन्न होता है, नाना सदर्भ और आयाम खुलते हैं तथा गतिशील अर्थ की परम्परा के सद्भाव से निबन्ध कला को उत्कर्ष प्राप्त होता है ।

प्रस्तुत निबन्ध मे आचार्य शुक्ल लोभ और प्रीति के स्वरूप का विवेचन मूलत: साहित्य, रसशास्त्र, समाज और लोक के सदर्भ में करते है और यही उनका लक्ष्य भी है । परन्तु इस प्रक्रिया मे वे नैतिक [1], धार्मिक [2], सांस्कृतिक [3], अर्थशास्त्रीय [4], ऐतिहासिक [5], राजनीतिक[6], लोक मंगलपरक [7], पौराणिक [8], राष्ट्रीय जागरणपरक [9], प्रकृतिपरक [10], कर्त्तव्याकर्त्तव्यपरक[11] एव काव्यशास्त्रीय [12] आदि तरह-तरह के संदर्भ-सूत्रो पर इच्छानुसार विचरण करते हुए चलते हैं । यथारुचि विषय-विशेष को भिन्न-भिन्न दृष्टियो से देखते हुए चलते है । जहाँ तक साहित्यिक सदर्भ का प्रश्न है, उसका दायरा और क्षेत्र तो बहुत ही बड़ा है । इसके अतर्गत मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का [13] सदर्भ तो दिया ही गया है, बँगला साहित्य [14] और फारसी-उर्दू [15] शायरी एव साहित्य के अतिरिक्त यूरोपीय साहित्य [16] का भी यथास्थान हवाला दिया गया है । रस, रसाभास [17] आदि के काव्यशास्त्रीय संदर्भ भी बीच-बीच में आते गए हैं । भारतीय कवियों मे

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 72
2 वही, पृ॰ 72-73, 92
3 वही, पृ॰ 73
4 वही पृ॰ 73 74
5 वही, पृ॰ 75, 78
6 वही पृ॰ 74
7 वही पृ॰ 74
8 वही, पृ॰ 75
9 वही, पृ॰ 76, 77
10 वही, पृ॰ 76, 78
11 वही, पृ॰ 84, 92
12 वही, पृ॰ 93-95
13 वही, पृ॰ 93-95
14 वही, पृ॰ 94
15 वही, पृ॰ 90, 92
16 वही, पृ॰ 86, 90
17 वही, पृ॰ 94, 98

वाल्मीकि,[1] सूरदास, तुलसीदास, रहीम, रसखान, ठाकुर [2] और बंकिम चन्द्र [3] का स्मरण किया गया है ।

इस समस्त चर्चा के दौरान आचार्य शुक्ल विविध व्यक्तियो, वर्गों, वस्तुओ आदि को विवेच्य से सम्बद्ध करके उनके संदर्भ भी देते चलते हैं । उदाहरण के लिए भोजन भट्ट चौबे,[4] भूखे,[5] लुटेरे [6] और डाकू,[7] किसानो,[8] बने-ठने मित्रों,[9] लोभियो, विद्वान, कवि, चित्रकार, उद्योगी, बीर,[10] भक्त,[11] भगवान, रोग और रोगी,[12] प्रेमी, परिवार के आत्मीय सदस्यों,[13] लखनवी महाशय [14] आदि तथा झोपड़ियों, लता-गुल्मों, पेड़-पौधो, पशु-पक्षियों [15] आदि की चर्चा भी करते चलते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवन, समाज, लोक, देशकाल, साहित्य, संस्कृति, मानवीय राग-विराग, वर्ग और मदर्भ इन सबसे प्रस्तुत निबध का सम्बन्ध इच्छानुसार जोड दिया गया है । परन्तु अतत: ये सभी सदर्भ लोभ और प्रीति मनोविकारो से जुड़कर मूल विषय को ही केन्द्रीय महत्त्व और आधार प्रदान करते है । इन सदर्भों के कारण कही भी निबंध व्यक्तिप्रधान नहीं होने पाता अपितु बराबर विषय-प्रधान ही बना रहता है । आचार्य शुक्ल की यह सजगता उनकी निबन्ध-कला को उत्कर्ष प्रदान करती है ।

निबध का गुरु-गभीर विवेच्य विषय, मनोवैज्ञानिक सदर्भों में उसका अनेकविध निर्वचन, अनेकानेक अर्थ सम्बन्ध सूत्र, सूत्र शाखाओं मे सन्निविष्ट प्रौढ चिंतन-मनन, आचार्य शुक्ल की मौलिक प्रतिभा, विदग्ध जीवन दृष्टि, व्यापक अध्ययन, सूक्ष्म पर्यवेक्षण, गहन अनुभव, प्रकाण्ड पाण्डित्य, विपुल वैदुष्य, सुदृढ़ आत्मविश्वास-शक्ति को परिलक्षित करते हैं । निबन्ध लेखक के ये गुण निबन्ध-कला को गरिमा और उत्कर्ष प्रदान करते हैं ।

विषय-प्रधान श्रेष्ठ निबन्धो के आदर्श के अनुसार प्रस्तुत निबन्ध मे सूक्ष्म विचार दृष्टि, विचारों की सघन कसावट और उनकी गूढ़-गुफित परम्परा, विवेचन-विश्लेषण की वैज्ञानिकता,

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 94
2 वही, पृ॰ 72, 76, 87, 94
3 वही पृ॰ 95
4 वही, पृ॰ 70
5 वही, पृ॰ 70
6 वही, पृ॰ 76
7 वही, पृ॰ 76
8 वही, पृ॰ 76
9 वही, पृ॰ 76
10 वही, पृ॰ 91
11 वही, पृ॰ 94
12 वही, पृ॰ 91
13 वही, पृ॰ 93
14 वही, पृ॰ 75
15 वही, पृ॰ 76, 78

तथ्य-निरूपण की गभीरता, निर्णय की स्पष्टता और निर्भ्रांति, प्रस्तुति की सुसम्बद्धता ओर अर्थ सूत्रों के निर्वाह आदि का वैशिष्ट्य पूर्णतया परिलक्षित होता है । उदाहरण के लिए विचारों की गूढ़-गुंफित परम्परा का नमूना दृष्टव्य है--

"लोभी या प्रेमी सान्निध्य या सम्पर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है । वस्तु के सान्निध्य या सम्पर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं । पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या सम्पर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक वह उसमें सान्निध्य या सम्पर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले । दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक-दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं । इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती ।"[1]

स्वयं आचार्य शुक्ल की अपनी मान्यता के अनुसार सर्वश्रेष्ठ वैचारिक निबधो मे विचार प्रत्येक पैरा मे ठूँस-ठूँस कर भरे हुए होते हैं । प्रस्तुत निबन्ध में इसका उदाहरण दृष्टव्य है--

"जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी । अतः किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य सम्पर्क रख कर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का सम्पर्क भी चाहता है । अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ, जटिल और व्यापक सम्बन्ध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं । वस्तु लोभ के आश्रय और आलबन, इन दो पक्षों मे भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं । पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है ।"[2]

श्रेष्ठ वैचारिक निबन्धों मे प्रस्तुत किए गए विचार पाठक की बुद्धि को उत्तेजित करके नयी विचार-पद्धति पर दौड़ा देते है । विवेच्य निबध इस दृष्टि से बेजोड़ हैं । एक उदाहरण दृष्टव्य है--

"विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई । लक्ष्य की इस एकता से समाज मे एक-दूसरे की आँखों में खटकने वाले की वृद्धि हुई । जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसन्द करते ? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए. धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं । आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं । पैसे से राज सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है . . . राज धर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 87

2 वही, पृ॰ 86

का पानी फिर गया, सब रक्षा धर्म हो गए । धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य-क्षेत्रो में करा देने से उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मण-धर्म और क्षात्र-धर्म का लोप हो गया, केवल वणिग्धर्म ही रह गया । व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अग हो गई । बडे-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गये ।''[1]

यहाँ मूल विवेच्य 'लोभ' की बात चल रही थी । इससे मुड़कर चर्चा हेतु विशेष के कारण मुद्रा के आविष्कार पर आ गई और फिर कालांतर मे मुद्रा-लोभ ने क्या-क्या गजब ढाये इसकी चर्चा होने लगी । प्रबुद्ध पाठक इतिहास पर दृष्टि डालता है, भूगोल पर दृष्टि डालता है, सभ्यता और सस्कृति पर दृष्टि डालता है, व्यक्ति, समाज, देश की मूल्य भ्रष्टना की बात सोचता है, धन की असीम-अद्‌भुत विनाशकारी शक्ति की बात सोचता है, सब धर्मों और नैतिक मानदण्डों के पतन की बात सोचता है, इस अभिशाप से मुक्ति के उपाय सोचता है . . ।'' कहने का आशय यह कि लोभ की चर्चा से पाठक की बुद्धि एक सर्वथा नयी विचार-पद्धति पर दोड पडती है ।

उपर्युक्त विवेचित तत्त्व मिलकर विषय-प्रधान विचारात्मक निबन्ध की कला की श्रेष्ठता के साधक बनते हैं और 'लोभ और प्रीति' निबंध को एक श्रेष्ठ निबंध बना देते हैं । इन तत्त्वो से पुष्ट होकर प्रस्तुत निबन्ध पाठक को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धिवत् प्रतीत होता है ।

परन्तु निबध की श्रेष्ठ कलात्मक सिद्धि के लिए विचार-श्रृंखला की अविच्छिन्नता-अखण्डता, विचारसूत्रों का निर्वाह, पूर्वा पर क्रमबद्धता, वस्तु की सुसम्बद्ध-सुसंघटित प्रस्तुति, निर्भ्रान्त वैज्ञानिक विषय-प्रतिपादन आदि भी सर्वथा आवश्यक हैं ।

प्रस्तुत निबन्ध मे इन सभी तत्त्वो का बहुत अच्छा निर्वाह किया गया मिलता है । उदाहरण के लिए, निबन्ध का प्रारंभ पृष्ठ-संख्या उनहत्तर से 'लोभ' के स्वरूप-विवेचन से किया गया है । लोभ के विवेचन-विश्लेषण के क्रम मे आचार्य शुक्ल बीसियो भिन्न-भिन्न संदर्भ और अर्थ-सम्बन्ध सूत्र उठाते-जोड़ते लोभ-विषयक प्रसंग को पृष्ठ-संख्या छियासी तक ले चलते हैं । यहाँ उल्लेख्य है कि इन मध्यवर्ती सोलह-सत्रह पृष्ठों के विस्तार में लाए गए समस्त सदर्भों-सूत्रो के बीच लोभविषयक मूल विचार-श्रृंखला कहीं छूटती या टूटती नहीं, वह उन सबके बीच से गुजरती हुई अपने अंशी विवेच्य लोभ को बराबर पकड़े रहती है । इस प्रकार विचार-श्रृंखला की अविच्छिन्नता-अखण्डता बराबर बनी रहती है ।

प्रस्तुत निबन्ध में पृष्ठ-संख्या 71 पर बताया गया है कि स्थिति-भेद से प्रिय या अच्छी लगने वाली वस्तु के सम्बन्ध में इच्छा दो प्रकार की होती है--प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा और दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा । इस तारतम्य में पहली के पुन: दो भेद करके उनका विवेचन किया जाता है जो छ:-सात पृष्ठो तक चलता है । पृष्ठ 79 पर बताया जाता है कि ''प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका, अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है''--यह संकल्प करके 'रक्षा की इच्छा' के विवेचन का सूत्रपात किया जाता है ।

---

1 चिंतामणि- पहला भाग पृ० 74

इस प्रकार विवेचन की पूर्वापरता बनाए रखी जाती है और विचार-सूत्रों का निर्वाह ी सजगतापूर्वक करते हुए निबन्ध-कला की सिद्धि की जाती है ।

प्रस्तुत संदर्भ में विवेचन की वैज्ञानिकता के स्वरूप का संकेत करना भी समीचीन ोगा ।

पृष्ठ-संख्या 71 के उल्लिखित प्रसंग में ही स्थिति-भेद से प्रिय वस्तु की इच्छा दो कार की बताई गई है । फिर पहले प्रकार के पुनः दो भेद किए गए हैं--

(1) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी की न हो,

(2) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों ।

इनमें से पहले की चर्चा करते हुए प्रतिपाद्य को तर्क से, लोकगत अनुभव से, साहित्यगत प्रमाण आदि से पुष्ट किया गया है, यथा --

(क) **तर्क से**--"इसमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोधग्रस्त होती है । इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है । कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगती है, लगा करे, दूसरों को इससे क्या ?"[1]

(ख) **लोकानुभव से**--"दूसरो के लोभ की निंदा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं । माँगने पर पाने वाले और न देने वाले दोनो इसमे प्रवृत्त होते हैं । एक कहता है 'वह बडा लोभी है, देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है, बराबर माँगा करता है ।'[2]

(ग) **साहित्यगत प्रमाण से**--"रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा कहते हैं--

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं ।

उनसे पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं ॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के सम्बन्ध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिंब-प्रतिबिंब रूप से दो व्यक्तियों में होती है ।"[3]

कभी-कभी आचार्य शुक्ल अपने वक्तव्य की पुष्टि भाषा वैज्ञानिक साक्ष्य प्रस्तुत करके प्राप्त करते हैं । उदाहरण के लिए शुक्ल जी का वक्तव्य है--

"साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे लोभ और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं । वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति मे बहुत-कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है । पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही है, इसका पता हमारी भाषा ही देती है ।"[4]

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 71-72
2 वही, पृ॰ 72
3 वही, पृ॰ 72
4 वही, पृ॰ 86

यह कह कर शुक्ल जी भिन्न-भिन्न भाषाओं के विज्ञान का साक्ष्य प्रस्तुत करके अपने वक्तव्य की पुष्टि करते हैं--

''किसी रूपवान या रूपवती को देखकर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है । अंग्रेजी के प्रेमवाचक शब्द 'लव' सैक्सन के 'लुफे' (Lufe) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) का सम्बन्ध संस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ' धातु से स्पष्ट लक्षित होता है ।''[1]

यहाँ आचार्य शुक्ल की विषय विवेचन-पद्धति के एक वैशिष्ट्य का सकेत करना समीचीन होगा--लोभ और प्रेम का अभेद बताकर आचार्य शुक्ल प्रेमविषयक एक नया प्रसंग शुरू करते हैं । पहले वे प्रेम के दो भेद--एकान्तिक और लोकबद्ध--बताते हैं । फिर प्रेमी और प्रिय की पारस्परिक स्थिति पर विचार करते हैं । इन दोनों मुद्दों की चर्चा बड़े विस्तार से लगभग आठ पृष्ठों में की गई है ।[2] यह सारा विवेचन-व्याख्यान मूलतः और मुख्यतः भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र के संदर्भ मे किया गया है । दो-तीन स्थानों पर फारसी और उर्दू साहित्य-शायरी की संदर्भपूर्वक चर्चा अवश्य की गई है । इस प्रक्रिया में शुक्ल जी सूरदास, गोपियो, भक्तिमार्ग, प्रेम, प्रेममार्ग, दिव्य शक्ति, सौंदर्य, वस्तु-सौंदर्य, कर्म सौंदर्य, वाक् सौंदर्य, भाव सौंदर्य, बाल्मीकि, राम, सीता, मिथिला, अयोध्या, महल, बगीचा, रजन, रामभक्त, राम का नाता, नेह का नाता, तुल्यानुराग, करुणा, दया, उत्साह, सहानुभूति, रस-रसाभास, फारसी-उर्दू साहित्य और शायरी, आशिक-माशूक, बकिम बाबू, दुर्गेशनदिनी और उसके पात्र, रेगिस्तान और कश्मीर आदि न मालूम कितने विविध प्रकार के सदर्भ-सूत्र उठाते हैं, उन पर चर्चा करते हैं । लेकिन कहीं भी मूल विवेच्य लोभ और प्रीति--'प्रेम'--से उनका ध्यान नहीं हटता । उनका प्रतिपाद्य और केन्द्र अनवरत रूप से उनका मूल विषय ही बना रहता है । वस्तु ओर सामग्री भी कहीं बेतरतीब या असम्बद्ध नहीं होने पाती । आचार्य शुक्ल निबध-कला के प्रति पूरी सजगता बरतते हैं । वे समस्त सामग्री को समेकित करते हैं और उसे विधागत रूप में बाँधते हुए यह कह कर औपचारिक अंत की ओर ले चलते हैं--

''लोभ या प्रेम की सबसे बडी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबन्ध समाप्त करते हैं ।''[3]

प्रस्तुत संदर्भ में एक विशेष स्थिति की चर्चा समीचीन होगी ।'लोभ और प्रीति' मनोवृत्तियों के विवेचन में आचार्य शुक्ल यहाँ 'प्रेम-मार्ग' का विवेचन करने लगते हैं । प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक व्यवहार का विवेचन होता है । भारतीय साहित्य के अतिरिक्त फारसी-उर्दू साहित्य और शायरी के संदर्भ भी दिये जाते हैं । प्रेम-मार्ग का यह विवेचन काफी लम्बा चलता है । इस क्रम में प्रेम के विविध शास्त्रीय रूपों पर विचार किया जाता है ।

प्रेम-मार्ग का यह विवेचन शुद्ध मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी आफ लव) का विषय भी बन सकता है । पर शुक्ल जी ने इसे साहित्यिक सदर्भों और स्वानुभव के आधार पर प्रस्तुत किया है ।

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 86

2 वही, पृ॰ 89 से 96 तक

3 वही, पृ॰ 96

सामान्यतया वस्तु-विवेचन के अंतर्गत बीच-बीच में, प्रायः प्रत्येक प्रसंग में और कभी-कभी एक ही पैरा में शुक्ल जी विचार के साथ भाव को, वस्तु के साथ व्यक्तिगत रुचि को एक सूत्र में पिरोकर सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करते चलते है । उदाहरण के लिए, प्रस्तुत निबन्ध में एक पैरा विशेष में आचार्य शुक्ल यह गूढ विचार रखते है--

''तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता मे कोई त्रुटि नहीं आ सकती । जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पडता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता । पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विगत हो जाती है . वहाँ प्रेम का अत्यत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पडता है । ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यत उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयो की पहुँच नहीं हो सकती ।''[1]

इस सघन बौद्धिक विचा-खण्ड के साथ, उसी तारतम्य और उसी पैरा में आचार्य शुक्ल के हार्दिक उद्‌गारों की रसमय छटा मिलती है --

''इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता, केवल यही चाहता है--प्रिय से नहीं, ईश्वर से--कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे । इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं--

जहँ जहँ रहो राज करौ . . खेसे जनि बार ॥''[2]

संभवतः इसी प्रकार के संदर्भों को दृष्टिगत करते हुए आचार्य शुक्ल ने चितामणि, पहला भाग के 'निवेदन' मे निवेदन किया है--

''यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर । अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है । इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है ।''

वास्तव में मार्मिक और भावाकर्षक स्थलों के माध्यम से बुद्धि गूढ़-जटिल वैचारिक प्रसंगों के बीच अपना मार्ग प्रशस्त करती है । निबन्ध-कला के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए वस्तु के साथ व्यक्ति का समुचित सद्‌भाव और सम्मेल आवश्यक भी है । आचार्य शुक्ल प्रस्तुत निबध में विषय और व्यक्तित्व, विचार और भाव के समुचित सहनिवेश से अपनी निबंध-कला को अंजाम देते चलते हैं । उनके सभी निबंधों की भाँति यहाँ भी निबन्ध-लेखक अपनी पूरी मानसिक सत्ता--हृदय और बुद्धि--के साथ लेखन में प्रवृत्त होता है ।

वैसे तो प्रस्तुत निबंध विचार-विषय-बुद्धिप्रधान निबंध है, विचारों की सघन कसावट और गूढ़ बुनावट सर्वत्र लक्षित होती है तथापि इसका कुछ अंश विवरणात्मक कोटि का भी माना जा सकता है, विशेषकर वह जो भारतीय साहित्य-संदर्भ का है ।

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 94

2 वही, पृ॰ 94

जैसा कि पहले अनेक बार बताया जा चुका है, लेखकीय व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य से समुद्भूत वस्तुगत वैशिष्ट्य और अर्थगत वैचित्र्य के साथ भाषा-शैली और अभिव्यंजना-प्रणाली मे भी अनिवार्यतः परिवर्तन आता है और वैशिष्ट्य एवं वैचित्र्य का सद्भाव होता है । वैसे भी, विचार-विषयप्रधान निबध का अपना एक विधागत औपचारिक रूप तथा अपनी एक विशिष्ट मानक भाषा-शैली और अभिव्यंजना-पद्धति होती है, जिसका विवेचन निबध-कला के विवेचन का एक अनिवार्य अग है ।

प्रस्तुत निबंध में आचार्य शुक्ल खडी-बोली की अपनी निजी प्रकृति के साथ अत्यत परिष्कृत, मँजी हुई और उच्च कोटि की संस्कृत तत्सम शब्दावली बहुल भाषा का आधार ग्रहण करते हैं, यथा--

"धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप मे होता है उसका प्रभाव अतः-करण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुण्ठित हो जाती हैं । जो लोभ मान-अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुख-भोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता को कहाँ तक रहने देगा ?"[1]

अत· प्रधा॰ रूप से तो सस्कृत तत्सम शब्दावली ही प्रयुक्त की गई है पर उन्होने यथास्थान, यथा आवश्यकता, देशज और फारसी-अरबी की शब्दावली का भी प्रयोग किया है । अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्द बहुत ही कम प्रयुक्त हुए हैं ।

अनुशासित और परिष्कृत भाषा के अतिरिक्त अभिव्यक्ति की विविध युक्तियो, प्रविधियो और सौंदर्य विधायक तत्त्वों, उपकरणों से लैस होकर प्रस्तुत निबंध की भाषा बड़ी वैचित्र्यपूर्ण, चमत्कारिक और समर्थ बन जाती है । इन युक्तियो, उपकरणों में मुहावरे, कहावतें, लोकोक्तियाँ, भाषाई अलंकरण, लाक्षणिकता, मानवीकरण, अमूर्त्त भावो का मूर्त्तन, प्रतीक, बिब आदि विशेष उल्लेख्य हैं ।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है, आचार्य शुक्ल एक मूर्धन्य शैलीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं । उनकी निबन्ध-शैली सर्वथा मौलिक, प्रौढ, गंभीर, सुगठित, अनुशासित और प्रभावशाली है । वह आत्मीय और सरस भी है ।

शैली के कतिपय परम्परागत रूप-विधायक और वैशिष्ट्य-विधायक तत्त्व हैं; जैसे--क्रम, सगति, शब्द-चयन, पद-योजना, वाक्य-रचना, अन्विति, संगठन, अलकरण, मुहावरे-लोकोक्ति, प्रतीक-बिंब आदि । कतिपय परम्परागत शैलियाँ भी हैं, जैसे-समास, व्यास, आगमन, निगमन, आत्मीय, भावुकतापूर्ण, हास्य-व्यंग्यपूर्ण, संवाद या वार्त्तालाप शैली आदि ।

प्रस्तुत निबन्ध मे ये सब तत्त्व और रूप तो हैं ही, बहुत-से नये और मौलिक रूप एव उपकरण भी उपलब्ध होते हैं; जैसे--सूत्रात्मकता, सूक्तिपरकता, लाक्षणिकता, छेडछाड, चुटकी, फब्ती, लालित्य, संस्मरण, प्रथम-पुरुष प्रयोग आदि ।

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 84

ये सब मिलकर आचार्य शुक्ल की निबध-शैली को निश्चय ही विशिष्ट और असाधारण बना देते हैं और लेखक को शीर्षस्थ शैलीकार के रूप मे प्रतिष्ठित करते है । वचन भगिमा की रोचकता, अभिव्यक्ति की मार्मिकता, व्यक्तित्व व्यजक अशों की मुखर सजीवता और व्यग्य-विनोद की सरसता से पुष्ट शुक्ल जी के निबन्ध पाठक को बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित ओर प्रेरित करते है ।

विवेच्य विषय की गंभीरता और पाठकीय ग्राह्यता की अपेक्षाओं के कारण इस प्रकार के निबन्धों में समास और व्यास दोनो प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया जाता है तथा आगमन और निगमन दोनो पद्धतियाँ अपनायी जाती हे ।

विचार और विषय-प्रधान निबंधो मे विचारों की मघन कसावट में बातें स्वभावतः अति सक्षेप में प्रस्तुत होती हैं । विदग्ध लेखक के पास विचारो का जबर्दस्त भण्डार होता है और उसे अपनी बातों को बहुत चुस्त भाषा में, अति सघन रूप में प्रस्तुत करना अनिवाय होता है । इसके लिए समाम शैली की अनिवार्य अपेक्षा होती है ।

प्रस्तुत निबध आचार्य शुक्ल का इसी पकार का विचारो की सघन कसावटमय एक प्रसिद्ध निबंध हे ।

दो शब्दों को जोडना समास कहलाता है । व्यावहारिक रूप में यह शैली भाव सक्षेपीकरण से युक्त सघन सूत्रात्मक बन जाती है । 'सूत्र' शैली आचार्य शुक्ल की अत्यंत आकर्षक, विशिष्ट, मौलिक आर महत्त्वपूर्ण शैली है । प्रस्तुत निबध में इस शैली का अनेक रूपो मे रचनात्मक प्रयोग किया गया मिलता है ।

उदाहरण के लिए, कहीं विचार विशेष को सूत्र रूप में सीधे प्रस्तुत करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है, यथा--"प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है ।"[1] कहीं दो मनोविकारो मे भेद और तारतम्य प्रदर्शक सूत्र के रूप मे इसका प्रयोग हुआ है, यथा--"लोभ सामान्योन्मुख होता है ओर प्रेम विशेषोन्मुख ।"[2], तो कहीं यह शैली विचारो को 'सूक्ति' के रूप मे प्रस्तुत करने में प्रयुक्त हुई है, यथा--

"लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता ।"[3]

'सूक्ति' कोई सामान्य कथन मात्र नहीं होता । उसमे विदग्ध लेखक चुस्त भाषा मे अपने व्यापक लोकनिरीक्षण एवं सुदीर्घ जीवनानुभव का सार संक्षेप, चमत्कारपूर्ण एव अनूठे रूप मे व्यक्त अथवा आरोपित करता है । अतः सूक्ति लेखकीय निपुणता के अतिरिक्त भाषा की शक्ति-सामर्थ्य की भी व्यंजक होती है ।

समास शैली का प्रयोग द्वन्द्वात्मक उक्तियों के लिए भी किया गया है; यथा--"पक्के लोभी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं ।"

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 77

2 वही, पृ॰ 69

3 वही पृ॰ 85

प्रस्तुत निबन्ध मे समास शैली का यह अनेकविध प्रयोग, भाव या विचार को गहरे स्तर पर आत्मसात करते हुए उसे अति सक्षिप्त, सुसम्बद्ध, समर्थ सूत्र मे जमाकर प्रस्तुत करना निश्चय ही लेखक की भावन-प्रतिभा और अभिव्यक्ति-क्षमता का व्यजक है। ये सूत्र उनकी निबन्ध कला की विशिष्ट और आकर्षक पहचान बन जाते है।

इस निबन्ध मे समास-शैली का आगमन और निगमन पद्धतियो के साथ समन्वय किया गया है। आचार्य शुक्ल तर्कशास्त्र के पडित थे। वे समझते थे कि क्रमरहित तर्क और तर्करहित क्रम शिथिल होता है। अतएव उनकी निबन्ध कला मे भावो एवं विचारो की प्रस्तुति क्रम, अन्विति और तर्कबद्धतापूर्वक पूरी सजगता के साथ की गई है।

आगमन पद्धति के अतर्गत पहले विचार या विषय को विस्तार से प्रस्तुत किया जाता है और बाद मे इसका सक्षेप या साराश बता दिया जाता है। निगमन पद्धति मे प्रक्रिया इससे विपरीत होती है: विचार सूत्र या सार-सक्षेप पहले बता दिया जाता है, बाद मे उसकी व्याख्या-विवेचना की जाती है।

उदाहरण के लिए, लोभ के एक विशेष रूप की चर्चा करते हुए बताया गया है-- "प्रतिषेधात्मक लोभ मे . लोभ दृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती है, उतना ही उसका दोष कम होता है।"[1]

यहाँ समास शैली का प्रयोग करते हुए लोभ-विषयक एक तथ्य का उल्लेख बहुत सक्षेप म कर दिया गया है। यह निगमन पद्धति भी है। आगे इसकी उदाहरणसहित व्याख्या-विवेचना की जाती है--यह व्यास शैली है।

इस प्रकार 'प्रतिषेधात्मक' लोभ की चर्चा पृष्ठ स० 71 से शुरू की जाती है और यह पृ० 75 तक चलती है। अत मे दो पंक्तियो मे इन सारी चार-पॉच पृष्ठीय चर्चा का साराश बता दिया जाता है, यथा--

"साराश यह कि जो लोभ दूसरे की सुख-शान्ति या स्वच्छदता का बाधक होता है, अधिकतर वही निंद्य समझा जाता है।"

--यह आगमन पद्धति है और सारांश प्रस्तुत करने मे समास शैली है। इस प्रकार, शैलियों और पद्धतियों की समन्वयात्मक प्रस्तुति से निबध कला के उत्कर्ष की साधना की गई है।

आचार्य शुक्ल की यह विषय प्रतिपादन शैली अपने मे बेजोड है। विषय की प्रस्तुति और विचारों का प्रतिपादन इसमे इतने तर्कपुष्ट और शक्तिशाली ढग से किया जाता है कि पाठक के पास उनको मान लेने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता। शुक्ल जी का आत्मविश्वास इस सदर्भ मे अतिरिक्त कारगर सिद्ध होता है। पाठक उनके विचारो का खण्डन करने अथवा उनको अस्वीकार करने का साहस ही नहीं जुटा पाता। विषय की प्रस्तुति और प्रतिपादन विषयक यह कौशल प्रस्तुत निबन्ध को कलात्मक श्रेष्ठता प्रदान करता है।

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ० 74

प्रस्तुत कौशल की सिद्धि अनेक युक्तियों से होती है । एक बड़ी प्रसिद्ध युक्ति तर्क की तो है ही, एक दूसरी युक्ति उदाहरण की है । आचार्य शुक्ल विवेच्य विषय और प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण एवं समर्थन के लिए उदाहरण तो देते ही हैं--यह उनकी निबंध कला का अनिवार्य अंग है--पर कभी-कभी वे एक साथ दो-दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । प्रस्तुत निबंध में वे अनेक बार एकाधिक उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट और पुष्ट करते हैं, यथा--

संदर्भ में प्रतिपाद्य यह है कि प्रतिषेधात्मक लोभ मे लोभ दृष्टि जितनी ही सकुचित होती है उतना ही उसका दोष कम होता है ।[1]

इसके स्पष्टीकरण और पोषण के लिए शुक्ल जी ने भोजन का और विश्वामित्र एव वसिष्ठ की गाय का--ये दो उदाहरण दिए हैं ।

एक तीसरी युक्ति संवाद-शैली में पारस्परिक प्रश्नोत्तर की है, यथा--

"अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमे यह किसी प्रकार हो भी सकता है ? हाँ, हो सकता है--परिचय से, सान्निध्य से । जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है ।"[2]

चौथी युक्ति है प्रस्तुत किए गए उदाहरण के समर्थन मे भी प्रमाण या हवाला देना, यथा--

आचार्य शुक्ल एक ऐसे विशेष लोभ की चर्चा करते हैं जिसके तहत बहुत से लोग किसी पारस्परिक विरोध के बिना एक ही वस्तु की प्राप्ति की इच्छा रख सकते हैं । अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे 'उपवन' का उदाहरण देते हैं । फिर बगीचे की चर्चा करते हुए वे यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं--जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर साधक होती है, वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत-से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं ।

इसके बाद वे उपवन वाले उदाहरण तथा निष्कर्ष के पोषण के लिए फिर एक हवाला पेश करते हैं--"लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दलबद्ध होकर काम करते हैं ।"[3]

उदाहरणों, प्रति-उदाहरणों और तर्कों की इस जबर्दस्त किलेबंदी के बाद पाठक के पास समर्पण भाव से शुक्ल जी के प्रतिपाद्य को स्वीकारने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता ।

पाठक से आत्मीयता स्थापित करते हुए विषय की सुग्राह्यता की दृष्टि से प्रस्तुत निबध मे द्वन्द्वात्मक संवाद-शैली[4] और वार्त्तालाप-शैली[5] के प्रयोग के साथ 'अब पूछिए कि'[6],

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 74
2 वही, पृ॰ 72
3 वही, पृ॰ 76
4 वही, पृ॰ 72
5 वही, पृ॰ 77
6 वही पृ॰ 77

'यहाँ तक तो की बात हुई'[1], 'अब . यह भी देखिए',[2] 'अब . . का प्रसग सामने आता है जिसे . . . . कहते हैं'[3] आदि जेसी पदावली का भी प्रयोग किया गया है ।

वाक्यों में बराबर 'हम' सर्वनाम का प्रयोग करते हुए विषय और पाठक से सघन आत्मीयता स्थापित करने का उपक्रम शुक्ल जी की निबन्ध कला का वैशिष्ट्य है, यथा--

"हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनन्द ले रहे हैं और उस आनन्द के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन मे नहीं है । इस बीच कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है, तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं . ।"[4]

प्रस्तुति एवं शैली की रोचकता-रमणीयता तथा विषय की सुग्राह्यता के लिए शुक्ल जी अनुप्राशमय शैली का भी प्रयोग करते है, और यह भी उनकी निबन्ध कला का एक वैशिष्ट्य है, यथा--

"विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओ मे सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई ।"[5]

शुक्ल जी अपनी शैली की लाक्षणिकता, अमूर्त भावों के मूर्त्तन-कौशल, बिंब-विधान आदि सौंदर्य विधायक, सर्जनात्मक उपकरणो के लिए भी प्रसिद्ध है । प्रस्तुत निबध मे इसके बहुत अच्छे उदाहरण मिलते है, यथा--

(क) "लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरो पर ठहरा दी गई है . . राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका धर्म हो गए ।"[6]

(ख) "सारे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गये हैं, सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है . सीता-हरण होने पर राम का वियोग जो सामने आता है वह . . . . चारपाई पर करवटें बदलने वाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतारने वाला है ।"[7]

वस्तु में व्यक्तित्व के विन्यास के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल अपनी भाषा-शैली और अभिव्यक्ति

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 75
2 वही ,पृ॰ 81
3 वही, पृ॰ 86
4 वही, पृ॰ 69
5 वही, पृ॰ 73
6 वही, पृ॰ 73-74
7 वही पृ॰ 90

की प्रविधि में भी लेखकीय व्यक्तित्व, आत्मतत्त्व, हार्दिक भावों आदि का सन्निवेश करते हुए निबन्ध-कला के उत्कर्ष की साधना करते हैं ।

इसकी सिद्धि अनेक रूपों और युक्तियो से होती है । उदाहरण के लिए, यहाँ 'मैं' शैली के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति के लिए अवसर निकाला गया है । एक दूसरी युक्ति-- व्यक्तिगत जीवन के संस्मरण प्रस्तुत करने की भी है, और इसके माध्यम से रोचकता-सरसता उत्पन्न करने का उद्देश्य भी सन्निहित रहता है । प्रस्तुत उदाहरण में दोनों युक्तियों का समावेश लक्षित होगा--

''मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया . सयोग से उन दिनो पुरातत्त्व-विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था. . वसत का समय था । महुए चारो ओर टपक रहे थे । मेरे मुँह से निकला--'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है ।' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे टोककर कहा--'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे ।' मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बडा भारी बट्टा लगता है ।''[1]

बौद्धिकता और वैदुष्य से बोझिल निबंध के शुष्क-नीरस वातावरण को इस प्रकार के प्रसग बड़ी सफलतापूर्वक मनोरजक और सरस बना देते हैं ।

प्रस्तुत संदर्भ में विशेष उल्लेख्य वह ललित-सरस व्यक्तित्व व्यंजक शैली है जो सहज आनंददायी है । सम्बद्ध अशों मे आचार्य शुक्ल की तन्मयता देखते ही बनती है; यथा--

(क) ''यदि देश-प्रेम के लिए हृदय मे जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ । बाहर निकलो तो आँखे खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, ... टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, अमराइयो के बीच गाँव झाँक रहे हैं । उनमे घुसो, देखो तो क्या हो रहा है । जो मिले उनसे दो-दो बातें करो; उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घडी-आध घडी बैठ जाओ ओर समझो कि ये सब हमारे हैं ।''[2]

(ख) ''कोमलागी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओ और कधे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन कानन मे निःशक विचर रही हैं । खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है । राम कुछ मुस्कराकर एक बार प्रेम-भरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं, फिर वीर दर्प से राक्षसो की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं । उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा ।''[3]

अनुच्छेद (क) देश-प्रेम में डूबे हुए लेखक के राष्ट्रीय चेतनासंपन्न व्यक्तित्व को तो सामने लाता ही है, लोभ और प्रीति के संदर्भ में देश-प्रेम और उसके विविध रूपो का

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ॰ 78-79

2 वही, पृ॰ 78

3 वही, पृ॰ 90

यह लगभग स्वतंत्र किन्तु तन्मयतापूर्ण विशद वर्णन निबध में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का श्रेष्ठतापूर्वक विधान करता है । मनोविज्ञानशास्त्री अपने लेखन मे इस प्रकार के लालित्यपूर्ण सदर्भ कभी नहीं रखेगा ।

राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल का यह देश-प्रेम उनके सजग इतिहास-बोध, उनकी देश-काल चेतना और प्रकृति-प्रेम को भी व्यंजित करता है ।

स्वस्थ-शिष्ट विनोदशीलता और जिदादिली शुक्ल जी के स्वभाव का सहज अग है । प्रस्तुत निबंध में वे व्यंग्य-विनोद, हास्य, चुटकी, छेड़-छाड़, फब्ती, कटाक्ष आदि का साथक, सरस और रचनात्मक प्रयोग करके निबध-कला के उत्कर्ष की सिद्धि करते है । कई बार ये सदर्भ कथात्मक प्रसगो से जुड़कर विशेष रोचक बन जाते हैं ।

व्यंग्य का एक उदाहरण तो वही महुआ और लखनवी दोस्त वाला प्रसंग है । व्यग्य-और कटाक्ष के अच्छे उदाहरणो मे ये अश प्रस्तुत किये जा सकते है:--

(क) "जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो ऑख भर यह भी नहीं देखते कि आम. . मजरियो मे कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपडों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रो के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी की परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयो ! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए, उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता । उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली मे अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो ।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण उपहासमय व्यंग्य के रचनात्मक उपयोग का एक श्रेष्ठ उदाहरण है । यहाँ मनुष्य विशेष के ज्ञान एव स्वभाव की निषेधात्मक विशेषताओं के आवृत्तिमय उल्लेख, असगति और विभावना अलकारो के प्रयोग तथा काकु आदि के माध्यम से विचार की प्रभावी अभिव्यक्ति की गई है । इस प्रकार का कौशल निबंध-कला की श्रेष्ठता का विधान करता हैं ।

(ख) "जो अनाथ विधवा का सर्वस्व हरण करने के लिए कुर्क अमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिको की दुत्कार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी मे रुपया गाड़कर न आप खाते हैं न दूसरे को खाने देते हैं . वे अधर्मो होकर जीते है । उनका अत:करण मारा गया समझिए । जो किसी के लिए नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है ।"[2]

आचार्य शुक्ल का हास्य प्रायः खुला हुआ और बेलाग होता है; यथा--

---

1 चितामणि, पहला भाग, पृ॰ 76-77

2 वही, पृ॰ 84-85

"मोटे आदमियो ! तुम जरा-सा दुबले हो जाते--अपने अंदेशे से ही सही--तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता ।"

उनका व्यंग्य कभी बहुत सीधा, कभी वक्रोक्तिपूर्ण, बेलाग और निर्मम भी होता है; यथा--

लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है । तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !!"[1]

प्रस्तुत उद्धरण आचार्य शुक्ल की भावुकतापूर्ण व्यग्यमय शैली का भी एक श्रेष्ठ उदाहरण है । ऐसे स्थलो पर शुक्ल जी की भावुकता चटककर व्यंग्य और धिक्कार में परिणत हो जाती है ।

परन्तु सामान्यतया शुक्ल जी का व्यंग्य-परिहास विनोद कटु, आत्मघातकारक अथवा अशिष्ट नहीं होने पाता बल्कि मृदुल, सयमित और मर्यादित रहता है, यथा--

"प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं । हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करने वाले नहीं ।"[2]

वास्तव में, भाषा-शैली और अभिव्यंजना-कौशल विषयक विशेषताओ मे ही आचार्य शुक्ल का लेखकीय व्यक्तित्व, उनके सर्जनात्मक हार्दिक भाव विशेष रूप से अभिव्यक्त हो सके हैं । विचार-विषयप्रधान निबंधो मे सामान्यतया ऐसा होता भी है ।

निष्कर्षतः, आचार्य शुक्ल का 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध अपने मूल विधायक तत्त्वो--गद्य माध्यम, औसत आकार, सीमित विषय, लेखकीय व्यक्तित्व, विषय की प्रधानता, सुसम्बद्ध व्यवस्थित विवेचन, प्रौढ़ शैली, समर्थ-परिष्कृत भाषा और सुनिश्चित प्रयोजन--सभी का समावेश करता है तथा स्वयं लेखक द्वारा निर्दिष्ट श्रेष्ठ निबन्ध की कसौटी पर भी खरा उतर कर निबंध-कला का आदर्श प्रस्तुत करता है ।

❑❑❑

---

1 चिंतामणि, पहला भाग, पृ० 85

2 वही, पृ० 77

व्याख्या--लेखन विषयक कुछ ज्ञातव्य बातें

किसी गद्यांश अथवा पद्यांश की साहित्यिक व्याख्या करना कोई हलका-फुलका या आसान कार्य नहीं है । व्याख्या वस्तुतः गभीर आलोचना का ही एक रूप है । इसके लिए लेखक का व्युत्पन्न होना और उसकी साहित्यिक समझ का विकसित होना बहुत आवश्यक है । इसमें व्याख्याकार के अध्ययन की गहराई और व्यापकता, मूल रचना की समझ, साहित्यिक और आलोचकीय क्षमता, वैचारिक प्रौढता, भावों की मार्मिकता, भाषा पर अधिकार और प्रस्तुति की निपुणता आदि सबकी परख हो जाती है ।

इसलिए व्याख्या लिखने का कार्य पूरी निष्ठा और गभीरता से सपन्न करना चाहिए ।

व्याख्या लिखने की कोई निर्धारित पद्धति अथवा उसका कोई सुनिश्चित 'पैटर्न' या प्रारूप नहीं है । हाँ, यदि प्रश्न की आकाक्षा 'संदर्भ सहित' व्याख्या की है, तो सदर्भ और प्रसग दिया अवश्य जायगा । वैसे भी, व्याख्या चाहे जिस रूप या शैली में प्रस्तुत की जाय, प्रसग की चर्चा स्वभावतः होगी ही; और संदर्भ का उल्लेख भी किसी न किसी रूप मे या स्तर पर हो जायगा ।

व्याख्या सीधे-सीधे, परम्परागत ढंग से 'प्रस्तुत पंक्तियां अमुक पुस्तक में संग्रहीत अमुक शीर्षक निबंध से ली गई हैं । इसके लेखक श्री अमुक हैं ।'--शैली में प्रस्तुत की जा सकती है, अथवा उसकी शुरुआत मूल गद्यांश के किसी शब्द, अंश, विचार या लेखक के निजी जीवनगत या कृतित्वगत किसी वैशिष्ट्य अथवा रचना के किसी महत्वपूर्ण पक्ष अथवा विदु का उल्लेख करते हुए की जा सकती है । इस वैकल्पिक शैली में व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए आलोच्य रचना और उसके लेखक की विशद जानकारी अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक है ।

व्याख्याकार की साहित्यिक एव आलोचनात्मक समझ का भी पर्याप्त विकसित होना सर्वथा आवश्यक है, क्योंकि इसी आधार पर वह अपने प्रस्थान-विंदु का सार्थक चयन करके उसकी व्याख्या का समुचित निर्वाह कर सकेगी । व्याख्या की यह शैली अधिक उपयुक्त, प्रौढ एवं परिपक्व है ।

सर्वप्रथम मूल गद्यांश के केन्द्रीय भाव को गहराई से ग्रहण करें । मूल भाव को समुचित परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने के लिए प्राप्त प्रसंग से उसका तारतम्य समझ लें और इस तारतम्य का निरूपण करते हुए ही व्याख्या का आरंभ करें ।

प्रायः प्रश्न की आकाक्षा 'व्याख्या' की होती है, 'भावार्थ' या 'सारांश-लेखन' की नहीं । इसलिए व्याख्या की प्रक्रिया में आलोच्य गद्याश के विशिष्ट शब्दों, पदों, वाक्यो सबका अर्थापन,

अर्थ-निरूपण और विवेचन-विश्लेषण करते हुए तथा गद्याश के मूल भाव को स्पष्ट करते हुए--प्राय: व्यास शैली में उसकी व्याख्या करते हुए--अपनी सामग्री प्रस्तुत करें। आलोच्य गद्याश के बाद मूल पाठ मे जो प्रसग चल रहा हो उससे, अथवा यदि वही प्रसग आगे भी जारी हो तो उसका अपनी व्याख्या मे व्यक्त विचारों से तारतम्य स्थापित करते हुए व्याख्या का समापन करें।

व्याख्या के बाद गद्यांश के वैशिष्ट्य की निरूपक टिप्पणियाँ लिखे। टिप्पणियाँ अवश्य ही समग्र व्याख्या का अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक अश होती हैं। ये व्याख्या को पूर्ण भी बनाती हैं और व्याख्या के स्तर को भी ऊँचा उठाती हैं।

प्राय: जिज्ञासा की जाती है कि टिप्पणियों मे क्या लिखा जाय।

इस बारे मे यह जानना और इस पर सख्ती से अमल करना बहुत जरूरी है कि जो कुछ भी पहले व्याख्या में लिखा जा चुका है उसकी पुनरावृत्ति टिप्पणियों मे कदापि न की जाय।

और टिप्पणी मे क्या लिखा जाय, किस-किस के बारे मे क्या-क्या वैशिष्ट्य बताया जाय--यह आपके ज्ञान और आपकी साहित्यिक समझ पर निर्भर करता है। आप आलोच्य गद्यांश के बारे में कला एव सौंदर्यादि विषयक कितने सम्बद्ध आयाम खोल सकते हैं--यह आपकी विषय और साहित्य की समझ की गहराई एवं व्यापकता पर निर्भर करेगा। एक सीमा समय की भी रहती है।

पर, सामान्यतया टिप्पणी के अन्तर्गत रचना विषयक वैशिष्ट्य, भाषा-शैली, भाषिक-संरचना, विचारधारा, देश-काल, सौन्दर्य एव मूल्य-दृष्टि, प्रभाव एवं प्रसार विषयक विशेषता का निरूपण किया जाना चाहिए।

सार्थक और प्रासंगिक टिप्पणियाँ व्याख्या के मान को समुन्नत कर देती हैं और व्याख्याकार के अपने साहित्यिक स्तर को तो व्यंजित करती ही है।

❑❑❑

कुछ गद्यांशो की व्याख्या और टिप्पणिया

चिंतामणि (1) में आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक दस निबन्ध संग्रहीत हैं । मनोविकार विषयक होते हुए भी ये निबन्ध विषय-प्रधान साहित्यिक-सामाजिक निबन्ध माने जाते हैं क्योंकि इनमे मनोविकारो का विवेचन शुद्ध मनोविज्ञान की दृष्टि से नहीं अपितु साहित्य, साहित्यशास्त्र, स्वानुभव और लोकानुभव के आधार पर भी किया गया है । लेखकीय प्रतिभा, गहन विवेचन, भाषा-शैलीगत प्रौढता और पाठकीय प्रभाव--सभी दृष्टियो से ये निबन्ध हिन्दी विचारात्मक गद्य के शिखर हैं और आचार्य शुक्ल के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध माने जाते हैं ।

उत्साह

(1) फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था मे हो जाता है । अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावनाप्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है । फल-भावनाप्रधान तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है ।

शुक्ल जी के अनुसार उत्साह मूलतः एक सुखात्मक भाव है । साहस, आनंद, कर्म और फलाकांक्षा--ये चार तत्त्व मिलकर उसकी सत्ता का संघटन करते हैं । व्यवहारतः कर्म-सपादन मे सतत तत्परतापूर्ण आनद उत्साह कहलाता है ।

'उत्साह' शीर्षक निबन्ध में साहित्य और साहित्यशास्त्र के संदर्भ में उत्साह का विवेचन और उत्साही वीर के मनोविज्ञान का अध्ययन किया गया है ।

उत्साह विषयक आनंद कभी मुख्यतया कर्म-भावनाप्रसूत होता है तो कभी मुख्यतया फल-भावनाप्रसूत । कभी-कभी वह किसी तीसरे ही कारण से उत्पन्न हो जाता है ।

उत्साह के कर्म-प्रधान और फल-प्रधान भेदों की तुलनात्मक विवेचना करते हुए आचार्य शुक्ल कर्म-प्रधान उत्साह को श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि--

(क) यह सदा एकरस रहता है । कर्म करने के दौरान उत्साही वीर के उत्साह की तीव्रता बराबर एक-सी बनी रहती है । अतः उसका आनंद ही सच्चा आनद होता है, तथा

(ख) उसके इस आनंद मे साहस का बहुत अधिक योग रहता है ।

प्रस्तुत निबंध की आलोच्य पंक्तियों में शुक्ल जी का कथन है कि मुख्यतया कर्म की भावना से काम करने वाले उत्साही की अपेक्षा मुख्यतया फल-प्राप्ति की इच्छा से काम करने वाले उत्साही की मनःस्थिति भिन्न होती है । कारण यह है कि कर्म एक ठोस और सुनिश्चित

तथ्य है जबकि फल सुनिश्चित तथ्य नहीं होता, उसकी प्राप्ति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती अथवा उसकी प्राप्ति में संदेह, विलब आदि हो सकता है ।

फल-प्राप्ति की अनिश्चित अथवा दुविधाग्रस्त स्थिति के कारण फलाकांक्षी कार्यकर्त्ता की मन:स्थिति में भी उतार-चढाव आता रहता है । कर्म के दौरान वह बराबर एक जैसे आनंद और उत्साह का अनुभव नहीं कर पाता । यदि सतत प्रयत्न करने पर भी उसको किसी कारण से सफलता नहीं मिलती, फल की प्राप्ति नहीं हो पाती तो वह हताश-निराश हो जाता है, उसका चित्त खिन्न हो जाता है, वह दुखी हो जाता है, उसकी उमग, उसका आनंद और उत्साह सब तिरोहित हो जाते हैं ।

इसके विपरीत, जो उत्साही वीर केवल कर्म पर दृष्टि रखकर, कर्म को ही सर्वप्रमुख एव साध्य मानकर, केवल कर्म के प्रति ही निष्ठा रखता हुआ उद्योग मे प्रवृत्त होता है, वह फल की प्राप्ति न होने पर भी खिन्न, हताश-निराश या दुखी नहीं होता, क्योंकि फल उसका साध्य या प्राप्तव्य होता ही नहीं । उसका साध्य या लक्ष्य उसका उद्योग ही होता है । उसका कर्मानुष्ठान ही उसके प्रयत्न की पूर्णता और निष्पत्ति होता है । उद्योग के निष्ठापूर्ण सम्पादन में ही उसका सुख-संतोष निहित रहता है । वह फलाफल की चिंता से मुक्त रह कर निर्द्वन्द्व भाव से अपने कर्म में तत्पर रहता है ।

बल्कि सच तो यह है कि सच्चा उत्साही वीर कर्म और फल मे द्वैत मानता ही नहीं । उसके अनुसार कर्म और फल मे कोई अंतर ही नहीं होता, और है भी तो बहुत कम, नगण्य; इतना नगण्य कि वीर की मन:स्थिति को वह प्रभावित नही करता, उसके उत्साह में, उसके आनंद की उमग में कोई परिवर्तन या उतार-चढ़ाव नहीं आता । फल की प्राप्ति न होने पर वह कम से कम हताश-निराश या खिन्न या दुखी तो नहीं ही होता । अधिक से अधिक वह ऐसा अनुभव करता है मानो उसने कर्म का अनुष्ठान किया ही न हो । उसकी मानसिक स्थिति ऐसी रहती है जैसे उद्योग शुरू करने के पहले थी--अर्थात् प्रकृत और स्वाभाविक मानसिक अवस्था ।

अतएव, आचार्य शुक्ल के अनुसार, अपनी निरपेक्षता और अहेतुकता, अखण्डता और सतत आनंदमयता के कारण कर्म-भावनाप्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह होता है, मुख्यत: कर्मानुष्ठान पर ही दृष्टि रख कर चलने वाला सच्चा उत्साही कहलाता है । फल-भावना प्रधान उत्साह तो वास्तव में उत्साह ही नहीं होता बल्कि उत्साह से भिन्न लोभ का एक छिपा-ढँका रूप होता है, और लोभ, जैसा कि सुविदित है, सदा सुखात्मक अथवा सदा सात्विक एव काम्य नहीं होता । वह कभी-कभी दु:खदायी, अग्राह्य और सर्वथा त्याज्य भी होता है ।

परंतु फिर भी, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, आचार्य शुक्ल के अनुसार उत्साह निपट फल-भावना-शून्य अनुभव नहीं होता । वह कर्म और फल की एक भिन्न अनुभूति है । इसका विवेचन शुक्ल जी आगे की पंक्तियों में करते हैं ।

टिप्पणी

(क) मनोविकार विषयक निबन्ध में आचार्य शुक्ल मनोविकार विशेष का विवेचन, उसकी सच्चाई और श्रेष्ठता का आकलन हिन्दी साहित्य ———— सामाजिक

मूल्य, नैतिक दृष्टि और स्वानुभव आदि के आधार पर करते है । इस कारण से उनका यह निबन्ध शुद्ध मनोविज्ञानशास्त्रीय निबन्ध न रह कर साहित्यिक निबन्ध बन जाता है ।

(ख) इसके अतिरिक्त, कोई मनोविज्ञानशास्त्री मनोभाव विशेष का विवेचन उसके 'सच्चे' अथवा 'न्यूनाधिक सच्चे' रूपो का विवरण देते हुए नहीं करता । यह आचार्य शुक्ल की व्यक्तिगत रुचि और स्वच्छन्दता का द्योतक है कि वे मनोभाव विशेष का विवेचन किस दृष्टि और किस रूप में करें । यह तथ्य निबंध मे निबंधकार के 'व्यक्तित्व के सद्भाव' का व्यजक है ।

(ग) आचार्य शुक्ल की मान्यता के अनुसार श्रेष्ठ विचार-प्रधान निबंध मे विचारों की सघन कसावट विद्यमान रहती है ।

(घ) आलोच्य गद्यांश मे विचारों की सघनता लक्षित की जा सकती है । भाषा भी 'खूब चुस्त', मंझी हुई और परिष्कृत है ।

(2) कर्म में आनंद अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है । धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते है । अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है ।

'उत्साह' शीर्षक निबंध की आलोच्य पंक्तियों में आचार्य शुक्ल कर्म और कर्म-भावना के महत्व का निर्वचन करते हुए 'कर्मण्य' की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं ।

कर्म भावना प्रेरित-कर्म और उत्साही कर्त्ता तथा फल-भावना-प्रेरित कर्म और उत्साही कर्त्ता की सापेक्षिक श्रेष्ठता का आकलन प्रस्तुत निबंध का एक प्रमुख विचारणीय विषय है और आचार्य शुक्ल ने इस पर कई प्रकार से विचार भी किया है ।

उनका कथन है कि जो उत्साही वीर कर्म करने में ही सुख-सतोष का अनुभव करता है उसी को कर्म-कुशल कहा जाता है । कर्म का कौशल यह है कि फलाफल की चिंता न की जाय, अंतिम फल की प्राप्ति हो पाती है या नहीं, इस पर ध्यान न दिया जाए । इसकी कोई सार्थकता और मूल्यवत्ता है भी नहीं । महत्वपूर्ण यह है कि अनुकूल प्रयत्न-कर्म और प्रासंगिक उद्योग में सतत संलग्न रहा जाय । सतत उद्योग की ही सार्थकता है, अनुकूल प्रयत्न का ही मूल्य है । अतएव कर्मण्य अथवा कर्म में दक्ष उसी को कहा जाता है जो कर्म को ही साध्य मानकर उसके संपादन में ही आनद का अनुभव करता है ।

यदि कर्म विशिष्ट और महान हो तो कहना ही क्या । उसके संपादन मे तो कर्मण्य को लोकोत्तर आनंद की अनुभूति होती है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार, "धर्म से मनुष्य समाज की 'स्थिति है," धार्मिक कार्यों से मनुष्य-समाज के अस्तित्व की रक्षा होती है, और उदारता के कार्य विशाल-हृदय व्यक्तियों द्वारा परहित के उद्देश्य से सम्पन्न किए जाते हैं । अतएव, ये कार्य उच्च होते हैं, महान होते हैं तथा स्वयं में मूल्यवान होते हैं ये अपना फल स्वयं होते हैं । कर्मण्य को इ

प्रकार के कार्यों का सपादन ही अपन में फल प्राप्तिवत् प्रतीत होता है । इन कर्मो के सम्पादन की प्रक्रिया में ही वह ऐसी उच्चतर सात्विक भाव-भूमि पर पहुँच जाता है जहाँ उसे दिव्य आनंद का अनुभव प्राप्त होता है ।

लोक का उपकार आचार्य शुक्ल की दृष्टि में एक बहुत बडा मूल्य है और कर्म-सौंदर्य का प्रतीक है । कर्मवीर अन्याय, अत्याचार, क्लेश, दु:ख-दर्द आदि का निवारण करके लोक का उपकार करता है, लोक में मगल का विधान करता है । परंतु आचार्य शुक्ल के अनुसार ये कर्म अपने में इतने अधिक महत्वपूर्ण, उच्चतर और मूल्यवान होते है कि कर्मवीर को इन लोकोपकारी धर्म-कार्यों के संपादन की प्रक्रिया मे जो मानसिक हर्षोल्लास और परितोष का अनुभव प्राप्त होता है उसी को वह अपना सच्चा सुख मानता है । फल-प्राप्ति तक ही वह अपने उद्योग की पूर्णता मानता है । उसके निकट कर्म ही साध्य होता है और उसी मे पहुँचकर सुख-सतोष करने के लिए वह रुका नहीं रहता । कर्म-संपादन को वह परख कर सुख-संतोष का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है । फल की प्राप्ति का न तो उसके लिए कोई स्वतंत्र महत्व होता है और न वह उल्लसित एवं तुष्ट अनुभव करने के लिए उसकी प्रतीक्षा ही करता रह सकता है । कर्म-साधना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ।

टिप्पणी

(क) 'उत्साह' शीर्षक पूरा निबंध आचार्य शुक्ल के सजग इतिहास-बोध और जाग्रत राष्ट्रीय विवेक का व्यजक है । जागरणकालीन पृष्ठभूमि में मनुष्य-समाज की स्थिति रक्षा, अत्याचार और क्लेश के दमन-शमन, फलासक्ति के त्यागपूर्वक कर्म-भावना के महत्त्व के प्रतिपादन आदि का अपना महत्वपूर्ण स्थान है ।

(ख) 'लोक' आचार्य शुक्ल का एक अत्यत प्रिय शब्द है जिसका उन्होंने अपने कृतित्व मे अनेक अर्थों में प्रयोग किया है । यह शब्द उनकी जनवादी एव प्रगतिशील दृष्टि का भी परिचायक है ।

(ग) आचार्य शुक्ल की सूत्रात्मक परिभाषाएँ प्रसिद्ध हैं । इसी निबन्ध में उन्होने कई सूत्रात्मक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमे से एक 'कर्मण्य' की भी है-- 'कर्म में आनंद अनुभव करने वालों का नाम ही कर्मण्य है' । यह निगमन पद्धति के अंतर्गत है ।

श्रद्धा-भक्ति

(3) कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नही । कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है । कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते है । कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र मे मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केन्द्र बन जाता है ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारों पर 'युग्मक' रूप मे भी विचार करते हैं और भाव-विशेष के विविध रूप भेदो पर भी भाव विशेष के रूप भेदों में वे तारतम्य प्रदर्शित करते हुए

रीति से उनके वैशिष्ट्य का निरूपण करते है । 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक निबन्ध के अतर्गत वे श्रद्धा और प्रेम मे तारतम्य निरूपित करते हुए बताते हैं कि श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त । प्रेम में घनत्व अधिक है, श्रद्धा में विस्तार ।

इस प्रकार द्वन्द्वात्मक रीति से भाव के वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए वे श्रद्धा के सामाजिक महत्व को रेखांकित करते हैं । श्रद्धेय अपने विश्व वाञ्छित लोक-मगलपरक कार्यों के कारण ही श्रद्धालु की श्रद्धा को आकर्षित करता है, उसकी श्रद्धा प्राप्त करता है । चूँकि मनुष्य-समाज की स्थिति के रक्षक धार्मिक कार्यो का सपादन करने के कारण ही श्रद्धेय को समाज के व्यापक वर्ग की श्रद्धा प्राप्त होती है, इसलिए उसके उन सद्कर्मों को ओर भी अधिक निश्चयपूर्वक महत्वपूर्ण माना जाने लगता है ।

प्रस्तुत निबन्ध की आलोच्य पंक्तियो मे आचार्य शुक्ल सद्कर्म-कर्त्ता के सामाजिक महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि संपादित कर्म का सबसे बड़ा और मुख्य स्मृति-चिन्ह उसका कर्त्ता ही होता है, अर्थात् कर्म के लिए सबसे पहले उसके कर्त्ता को ही याद किया जाता है । हालाँकि कर्म के स्मारक और दूसरे भी होते हैं, जैसे वह स्थान जहाँ कर्म का कर्त्ता रहता है, जहाँ कर्म किया गया, जिन लोगो पर उस कर्म का शुभाशुभ प्रभाव हुआ, जिन लोगों को कर्म से हानि-लाभ हुआ, जो व्यक्ति या वस्तु या उपकरण कर्म के संपादन में सहायक हुए वे सब कर्म के स्मारक हो सकते हैं । उदाहरण के लिए, अत्याचारी कस का वध श्रीकृष्ण ने किया । कंस मथुरा का राजा था, उसका वास मथुरा मे था, मथुरा मे ही कस का वध किया इसलिए कंस के वध के कार्य के साथ मथुरा की भी याद की जायगी, की जाती है । वह स्थान भी कर्म का एक स्मारक है । वसुदेव-देवकी कंस के अत्याचारों के शिकार हुए, बलदाऊ कंस के वध में श्रीकृष्ण के सहायक हुए; इसलिए ये सभी कर्म के स्मारक हैं । परतु कस के वध का सबसे बडा, सबसे प्रधान और सबसे बढ़कर स्मारक उस कर्म के सपादनकर्त्ता श्रीकृष्ण ही हैं-- इसमें संदेह नहीं । अत्याचारी कंस के दमन के संदर्भ में सबसे पहले श्रीकृष्ण की ही याद की जाती है, उसका सारा श्रेय श्रीकृष्ण को ही दिया जाता है । इसलिए सामाजिक महत्व के शुभ कार्य का बड़ा महत्व होता है । सामाजिक शुभ-कार्य उसके कर्त्ता को सामाजिक महत्व, आकर्षण, प्रेरणा और श्रद्धा का पात्र बना देते हैं । उसका आचरण समाज के लिए सतत: आदर्श और अनुकरणीय बन जाता है । सामान्यतया सद्कर्मों का संपादन आसान नहीं होता । यह प्रसिद्ध ही है कि अच्छे काम में तरह-तरह की विघ्न-बाधाएँ आती हैं । परन्तु, कर्म करने वाले लडने की शक्ति अर्जित करके बाधाओ को पराभूत कर देते हैं और नाना विषमताओ के बीच भी वे सद्कर्म-संपादन में सफल होते हैं, इसलिए वे समाज के लिए प्रेरणा-केन्द्र और अनुकरणीय हो जाते हैं । समाज अपने जीवन-क्रम के संचालन में शक्ति अर्जित करने के लिए, विघ्न-बाधाओं के निवारण के लिए, सीख के लिए, बराबर महान् सद्कर्मियों के जीवन और आचरण को आस्था और विश्वास से देखता है, उनको अनुकरणीय मानता है, उनको प्रेरक जीवन-शक्ति का केन्द्र मानता है । कर्त्ता के महत् सद्कार्यों का समाज मे इतना भव्य और व्यापक स्वागत होता है कि वह कर्म सौंदर्य का केन्द्र बन जाता है बहुत से लोग उसके कर्म सौंदर्य पर मुग्ध

हो जाते है और उससे प्रेरणा ग्रहण करके स्वयं भी सद्‌कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं, उसके सदाचरण को, कर्म-सौंदर्य को स्वयं अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं । इसलिए कर्म ही महत्वपूर्ण है, सद्‌कर्म अपने संपादनकर्त्ता को भी व्यापक समाज के बीच प्रेरक शक्ति-केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित कर देते है ।

'शक्ति-केन्द्र' पद यहाँ दोहरे अर्थ का व्यजक है : एक अर्थ कर्म कर्त्ता के पक्ष का है, जिसके अनुसार भाव यह है कि सद्‌कर्मों में बहुत शक्ति होती है, इनका सम्पादन-कर्त्ता अपने कर्मों की शक्ति से ही समाज के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है । दूसरा अर्थ समाज के पक्ष का है, जिसके अनुसार भाव यह है कि समाज भी सुकर्मी से सुकर्म करने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करता है और इस प्रकार वह स्वयं भी आकर्षण का विषय बन जाता है, अथवा, समाज के बीच सुकर्म करने की शक्ति के वितरण का केन्द्र बन जाता है ।

टिप्पणी

(क) प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य शुक्ल प्रतिपादित करते हैं कि श्रद्धा एक सामाजिक भाव है और उसका बहुत अधिक सामाजिक महत्व है । यह निबंध शुक्ल जी की सामाजिक दृष्टि का व्यंजक है ।

(ख) यह पूरा निबंध आचार्य शुक्ल के सजग इतिहास बोध और जाग्रत राष्ट्रीय विवेक का व्यजक है । जागरणकालीन पृष्ठभूमि मे लिखित प्रस्तुत निबध मे कर्म-भावना, पुरुषार्थ, कर्त्तव्यशीलता, सामाजिक सद्‌कर्म और सद्‌कर्मी के महत्व का प्रतिपादन तत्कालीन परिस्थितियों में अपना विशेष स्थान एवं महत्व रखता है ।

(ग) आचार्य शुक्ल की निबन्ध-शैली और निबन्ध-कला 'सूत्रात्मक' वाक्य-रचना के लिए भी प्रसिद्ध है । 'कर्त्ता से बढकर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं' इसी प्रकार का एक प्रसिद्ध सूत्रात्मक वाक्य है, जो आचार्य शुक्ल के गहन लोक-निरीक्षण एवं प्रखर विवेक का परिचायक है । यह वाक्य उनकी सामासिक शैली का एक विशिष्ट रूप भी है । सूत्रात्मक वाक्य देकर वे बहुत दक्षतापूर्वक उसकी व्याख्या-विवेचना करते हैं ।

(घ) आचार्य शुक्ल अपने मंतव्य की व्यजक शब्दावली के निर्माण के लिए भी प्रसिद्ध हैं । 'शक्ति-केन्द्र' उनका इसी प्रकार का एक स्वनिर्मित व्यंजक पद है ।

(4) व्यक्ति-सम्बन्धहीन सिद्धान्त-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्त्तक मन को अव्यक्त रहते हैं । वे मनोरंजनकारी तभी लगते हैं जब किसी व्यक्ति के जीवन-क्रम के रूप में देखे जाते हैं । शील की विभूतियाँ अनन्त रूपों में दिखाई पड़ती हैं । मनुष्य जाति ने जब से होश सँभाला, तब से वह इन अनंत रूपों को महात्माओं के आचरणो तथा आख्यानों और चरित्र-सम्बन्धी पुस्तकों में देखती चली आ रही है । जब इन रूपो पर मनुष्य मोहित होता है, तब वह सात्विक शील की ओर आप से आप आकर्षित होता है । शून्य सिद्धान्त-वाक्यों में कोई आकर्षण-शक्ति या प्रवृत्तिकारिणी क्षमता नहीं होती ।

आचार्य शुक्ल अपने 'श्रद्धा और भक्ति' शीर्षक निबंध में भक्ति के आधारों का निरूपण करते हुए बताते हैं कि भक्ति मे भक्त अपने इष्ट के जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन करके उसके वास्तविक महत्व के साक्षात्कार का अवसर प्राप्त करता है तथा उसके महत्व से अभिभूत होकर स्वयं को उसके प्रति समर्पित कर देता है । और अपने व्यावहारिक आचरण के लिए इष्ट के रूप मे एक अनुकरणीय जीवनादर्श प्राप्त करके कृतार्थ अनुभव करता है ।

वास्तव मे, कथनी-करनी मे अभेद और कथनी का करनी में परिणत होना एक बहुत बड़ा जीवन-मूल्य है । इससे जीवन में सौंदर्य उत्पन्न होता है, चरित्र एवं आचरण आकर्षक, महत्वशाली और प्रेरक बनते हैं ।

प्रस्तुत निबन्ध की आलोच्य पंक्तियो मे आचार्य शुक्ल इसी तथ्य का विवेचन करते हैं । जीवन में आचरण के निमित्त दो प्रकार के सिद्धांत-मार्ग सामने आते हैं: एक मार्ग अमूर्त्त, वायवी सिद्धांत-वाक्यो का कोरा उपदेशात्मक मार्ग होता है । इसके अतर्गत विधि-निषेधो का, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का लिखित अथवा मौखिक निर्देश मात्र होता है, उनको मानव-जीवन मे उतार कर चरितार्थ और प्रत्यक्ष घटित होते हुए मूर्त्त, व्यावहारिक रूप मे नहीं दिखाया जाता है । यह व्यक्ति सम्बन्धहीन मार्ग हुआ । दूसरा रास्ता प्रत्यक्ष कर्मों द्वारा सिद्धांत-वाक्यो, विधि-निषेधो को जीवन मे प्रत्यक्ष व्यावहारिक स्तर पर उतार कर उनको आचरण के लिए अनुकरणीय रूप में प्रस्तुत करने का है । यह व्यक्ति सम्बन्धयुक्त सिद्धांत-मार्ग हुआ ।

आचार्य शुक्ल का मत है कि पहला मार्ग बुद्धि के लिए स्पष्ट हो सकता है । बुद्धि का काम समझना है । वह सिद्धात-वाक्यो, उपदेशो को समझ सकती है । परंतु उनकी कोरी समझ निरर्थक है क्योंकि समझने मात्र से उनके वास्तविक स्वरूप और महत्व का साक्षात्कार नहीं होता, मन के समक्ष उनका वास्तविक सौंदर्य प्रत्यक्ष नहीं होता । वैसी स्थिति मे वे मन को प्रेरित करके व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त नहीं करते । बुद्धि निश्चयात्मिका है, परन्तु मन प्रवर्त्तक है, कर्म मे प्रवृत्त यही करता है । जब सिद्धांत-वाक्य कोरे उपदेश न रह कर व्यक्ति के क्रियात्मक जीवन का अंग बनते हैं, जब वे वास्तविक जीवन में चरितार्थ होते हैं, ठोस व्यावहारिक आचरण में परिणत होते हैं, तभी वे सुन्दर और मोहक बनते हैं तथा तभी चित्त को प्रफुल्ल करके मन को प्रेरित करते हैं । इसलिए केवल कथनी का कोई महत्व नहीं । कथनी का करनी मे परिणत होना अनिवार्य है, तभी उसमे सौंदर्य, शक्ति और प्रेरकता आती है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार चरित्र के विधायक भावो के विशेष प्रकार के संगठन को 'शील' कहते हैं । शील चरित्र का स्थायी आयाम होता है परंतु इसके सौंदर्य का उद्घाटन, प्रतिफलन और साक्षात्कार बहुत रूपो में होता है । महान् आत्माओं, महत् व्यक्तियो के आचरण, उनकी जीवन-गाथाओ और चरित्रविषयक धर्म-ग्रथों आदि मे इस प्रकार के श्रेय कर्मों, चारित्र्य और शील के विधायक श्रेष्ठ क्रिया-कलापो के व्यावहारिक रूप का साक्षात्कार मनुष्य जाति बहुत दिनो से करती आई है । मनुष्य ने इनके मूर्त व्यावहारिक रूप में सौंदर्य देखा है, वह इनके घटित, ठोस एवं प्रत्यक्ष रूप पर ही मुग्ध हुआ है । 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरे की भलाई करो' जैसे सिद्धान्त-वचन अपने कोरे उपदेशात्मक रूप मे निरर्थक और प्रभावहीन होते हैं । बार-बार कहे जाने पर भी ये 'बकने' जैसा व्यर्थ होते

(ग) भक्ति का भाव श्रद्धा के भाव से कहीं अधिक सामाजिक, परोपकारमय एवं महत्वपूर्ण है । कारण यह है कि श्रद्धा के लिए केवल 'पूज्य बुद्धि' अपेक्षित होती है, जबकि भक्ति में पूज्य बुद्धि के अतिरिक्त प्रेम भी अपेक्षित होता है । श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है । इसके अतिरिक्त, भक्ति में भक्त स्वयं भी सामाजिक महत्व की ओर अग्रसर होता है ।

यहाँ आप देखेंगे कि भक्ति के स्वरूप का सारा विवेचन-प्रतिपादन लोक की दृष्टि से किया गया है ।

(घ) शुक्ल जी की निगमन पद्धति और तर्कपूर्ण वैज्ञानिक विवेचन विश्लेषण-शैली द्रष्टव्य है ।

(5) अपने व्यवहार पथ में आश्रय-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही संभव है । स्वानुभूति द्वारा ही वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है । इसी से भर्तृहरि ने ''स्वानुभूत्यैकमानाय'' कह कर नमस्कार किया है । यदि चिन्मय में अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो तो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाय ?

आचार्य शुक्ल की आधुनिकता उनकी चिंतन-दृष्टि की इहलौकिकता और मानववादी चेतना में भी प्रतिबिंबित होती है । उनके अनुसार भक्ति का प्रयोजन किसी लोकोत्तर सत्ता की परितुष्टि अथवा कोई इतर लोकोत्तर सिद्धि नहीं है । उसका लक्ष्य मानव-हित है और उसका कार्य-क्षेत्र यह भौतिक जगत् है । भक्ति-मार्ग मनुष्य द्वारा अपने हृदय में आनंद का अनुभव करते हुए अपनी ही स्थिति-रक्षा के निमित्त धर्म में प्रवृत्त होने का एक सुगम मार्ग है ।

यही स्थिति ईश्वर और अवतार की परिकल्पना की है । सगुण भक्ति का दर्शन क्या है ? सगुण (ईश्वर) की परिकल्पना की फिलॉसफी क्या है ? उसका आधार और प्रयोजन क्या है ? 'श्रद्धा और भक्ति' शीर्षक निबंध में आचार्य शुक्ल इसका भी तर्क पुष्ट और मौलिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

इस जगत् में 'मानुस सत्य' ही सबसे बड़ा सत्य है । मनुष्य ही जगत् की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई और सच्चाई है । यहाँ मनुष्य जाति के अस्तित्व की रक्षा तथा उसके अस्तित्व के रक्षक मूल्यों और भावों की रक्षा सर्वथा अनिवार्य है, क्योंकि मनुष्य से ही जगत है, मनुष्य से ही यह सृष्टि सार्थक है । रोचक तथ्य यह है कि इस सबका दायित्व भी स्वयं मनुष्य पर ही है : वही अपने अस्तित्व की रक्षा तथा अस्तित्व के संरक्षक मूल्यों की रक्षा कर सकता है । इसी दायित्व की पूर्ति के लिए उसने ईश्वर की परिकल्पना की है ।

आलोच्य पंक्तियों में शुक्ल जी इसी प्रसंग की चर्चा करते हैं । जगत में मनुष्य जाति की स्थिति-रक्षा के दायित्व का निर्वाह कोई आसान काम नहीं है । स्थिति-रक्षा धर्म के पालन से होगी, धर्म के रक्षक मूल्यों की संरक्षा से होगी । क्योंकि रक्षित किया हुआ धर्म ही रक्षा कर सकता है । इसके लिए प्रेरणा और शक्ति की आवश्यकता है । यह आवश्यक है कि एक ठोस प्रेरक आदर्श सामने हो, जो अपनी उपस्थिति मात्र से मनुष्य-जीवन का व्यावहारिक पथ धर्म से आलोकित करता रहे धर्म में सुगमतापूर्वक प्रवृत्त होने के लिए शक्ति का स्रोत

और आधार बना रहे । ईश्वर की परिकल्पना का यही प्रयोजन है । मनुष्य अपनी समष्टि-स्थिति और अपने सुख-संतोष के लिए परमात्मा के रूप मे एक ठोस प्रेरक शक्ति-स्रोत एव अवलब खडा करता है । यह तो हुई प्रयोजन की बात ।

अब प्रश्न है कि ईश्वर की परिकल्पना का आधार क्या है और उसकी प्रतिष्ठा कैसे होती है ?

आचार्य शुक्ल का मत है कि यह सब मनुष्य के द्वारा उसके ज्ञान-क्षेत्र, इंद्रिय-बोध और कर्म-क्षेत्र की सीमा के भीतर ही हो सकता है । ईश्वर के स्वरूप-संघटन और परमात्मा की प्रतिष्ठा के लिए उसके पास एकमात्र आधार उसकी अपनी अनुभूति ही है । केवल अपने अनुभव के आधार पर ही ईश्वरत्व की परिकल्पना की जा सकती है । स्थिति-रक्षक भाव और मूल्य क्या और कौन है--यह मनुष्य केवल अपने अनुभव से जान सकता है । उन्हीं के चरम रूप की प्रतिष्ठा ईश्वर की कल्पना का आधार बनती है । अपनी स्थिति-रक्षासम्बन्धी भावों को परमावस्था पर पहुँचाकर ही मनुष्य परम् भावमय की भावना करता है ।

अपने व्यावहारिक जीवन में मनुष्य ने जिन भावों और मूल्यो को अपनी जाति की रक्षा के निमित्त आवश्यक पाया है, दया-दाक्षिण्य, प्रेम-क्रोध आदि भावो तथा शक्ति, शील, सौंदर्य आदि के जिन विभूतियों को उसने उसके अस्तित्व के लिए उपयोगी और सार्थक अनुभव किया है वे ही सब ईश्वर की कल्पना का आधार बन सकते हैं । वह उन्हीं सब भावो, मूल्यो, गुणो और विभूतियों की परम प्रतिष्ठा से ईश्वर का स्वरूप खडा करता है । अतएव ईश्वर के स्वरूप-सघटन में स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण हे, स्वानुभव ही एकमात्र आधार है । मनुष्य का अपना भाव ही परम भाव का आधार है । अपने प्रत्यक्ष जीवनगत व्यवहार एव कल्पना-क्षेत्र में उसने जिन गुणो एवं विभूतियो को सुख-सतोषकारी एवं स्थिति-रक्षक पाया है उन्हीं के चरमोच्च रूप की प्रतिष्ठा में वह परमानुभूति की धारणा कर सकता है । इसलिए 'स्वानुभूति ही जिसका एक मात्र प्रमाण है' उस आत्मतत्व की भर्तृहरि ने वदना की हे । अतएव, मनुष्य वरेण्य है, उसकी अनुभूति वरेण्य है, उसकी कल्पना वरेण्य है, उसकी धारणा-शक्ति वरेण्य है, क्योंकि वही ईश्वर की कल्पना का आधार है, मनुष्यता ही ईश्वरता का आधार है, मनुष्य ही ईश्वर की कल्पना का स्रोत हे ।

लेकिन फिर भी, श्रेष्ठ ईश्वर ही है । ईश्वर चिन्मय है, मनुष्य मृण्मय है । ईश्वर चेतना का चरम विकास एव विशुद्ध ज्ञानमय है । दया-दाक्षिण्य, प्रेम-क्रोध, शक्ति-शील, सौंदर्य-औदार्य आदि भाव, गुण, विभूतियाँ और मूल्य मृण्मय मनुष्य में अस्थायी एव ससीम हैं परतु परमात्मा मे इनकी चरमता और सर्वश्रेष्ठता निश्चयपूर्वक परिकल्पित की गई है । इनके सदभ में मनुष्य ईश्वर को निश्चयपूर्वक अपन से कहीं अधिक श्रेष्ठ, समर्थ और पूर्ण मानता हे, क्योंकि उसने स्वयं ईश्वर मे इनके चरम रूप की प्रतिष्ठा करके उसका स्वरूप खड़ा किया है । इसी कारण ईश्वर उसके लिए पूज्य और वंद्य है । वह निश्चयपूर्वक मानता है कि ईश्वर धर्म के परम रूप का प्रतीक और अधिष्ठान है, उसमें उसको गुणों, भावो आदि की परमानुभूति प्राप्त होती है । तभी वह ईश्वर के समक्ष अपनी अहता के त्यागपूर्वक नतमस्तक होकर स्वय को समर्पित करता है, उसकी चिन्मयता से अभिभूत होकर सदाचरण के लिए प्रेरित और प्रवृत्त होता है

यही स्थिति भक्त के हृदय मे भक्ति-भाव के उदय की है । ईश्वर के रूप मे मनुष्य को अपने प्रेम और श्रद्धा के लिए बड़ा भारी अवलम्ब मिल जाता है, जिसमे प्रेरित होकर भक्त अपने हृदय मे आनंद का अनुभव करते हुए धर्म में प्रवृत्त होने का सुगम मार्ग प्राप्त कर लेता है । परमात्मा पूर्ण-पुरुष की भावना है, श्रद्धेय विषयो का विशद रूप-विशिष्ट अधिष्ठान है । इससे भक्त का हृदय गद्‌गद हो उठता है, उसका धर्मपथ आनंद से जगमगा उठता है, इसके जीवन मे अपूर्व माधुर्य और बल का सचार हो जाता है और उसकी जीवन-धारणा की अभिलाषा दूनी-चौगुनी हो जाती है ।

टिप्पणी

(क) श्रद्धा की तुलना मे भक्ति-भाव कहीं अधिक सघन, व्यापक और सामाजिक भाव है । इसकी व्याप्ति समष्टि-रक्षा तक है ।

(ख) परतु अतत: भक्ति का प्रयोजन कोई लोकोत्तर सिद्धि अर्जित करना नहीं है अपितु लौकिक-जागतिक मनुष्य जाति की रक्षा करना है । भक्ति और उसका अवलंब अथवा आधार ईश्वर का अस्तित्व भी मनुष्य के लिए है, मनुष्य ही सृष्टि का सबसे बड़ा सत्य है । मनुष्य जाति की रक्षा करके, उसके सुख-संतोष का साधक बन कर ही ईश्वर अपने को सार्थक कर पाता है ।

(ग) आत्मतत्व मे स्वानुभूति ही एक मात्र प्रमाण है । आचार्य शुक्ल यहाँ भर्तृहरि के नीतिशतक के पहले श्लोक का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं । प्रतिपाद्य के पोषण के लिए आप्त-वचनो के उद्धरण से उनके अध्ययन की व्यापकता व्यजित होती है तथा शैली भी एक विशिष्ट भंगिमा प्राप्त करती है ।

(घ) अगली पंक्तियों में आचार्य शुक्ल राम, कृष्ण आदि अवतारों की परिकल्पना के आधार का अत्यंत रोचक एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत करते हे । यही विवेचन उनके 'लोक-धर्म' और 'क्षात्र-धर्म' की परिकल्पना का आधार बनता है ।

(6) ससार से तटस्थ रह कर शाति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार-सम्बन्धी उपदेश देने वालो का उतना अधिक महत्व हिन्दू धर्म में नहीं है जितना संसार के भीतर घुस कर उसके व्यवहारो के बीच सात्विक विभूति की ज्योति जगाने वालो का है । हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं । अपने जीवन द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए है ।

जागरणकालीन अपेक्षाओं के अनुरूप आचार्य शुक्ल भारतीय संस्कृति और धर्म की समुचित व्याख्या कर रहे थे । 'श्रद्धा और भक्ति' शीर्षक निबन्ध के अतर्गत उन्होंने राम-लीला और कृष्ण-लीला के स्वरूप और प्रयोजन, हिन्दू सस्कृति और जाति के वैशिष्ट्य, हिन्दू धर्म की प्रवृत्तिपरकता, कर्म-प्रधानता और लोकमगलमूलकता आदि का सारगर्भित एव सदर्भवान विवेचन प्रस्तुत किया है ।

उल्लिखित निबंध की आलोच्य पंक्तियों मे आचार्य शुक्ल हिन्दू धर्म की प्रवृत्ति-प्रधानता और कर्म मूलकता की चर्चा करते हैं उनके अनुसार हिन्दू धर्म में प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनों

का समावेश है । यहाँ संसार का त्याग करके, घर-बार से विरक्त होकर, एकात मे जप-तप करने, धूनी रमाने, साधना करने वाले जती-जोगी, वैरागी-सयासी, ऋषि-मुनि भी हैं और संसार मे प्रवृत्त होकर, घर-गृहस्थी, समाज-परिवार के प्रपच के बीच रह कर कर्म-सौंदर्य की प्रभा विकीर्ण करने वाले महापुरुष, महात्मा और कर्मयोगी भी हैं । समाज का मार्ग-दर्शन करते हुए समाज मे सुख-शांति की कामना करने के कारण हिन्दू धर्म में मान-सम्मान दोनो को प्राप्त है । परंतु विरक्त की अपेक्षा अनुरक्त को ससार से तटस्थ वैरागी उपदेशक की अपेक्षा संसार मे प्रवृत्त होकर लोकजीवन के बीच अपने प्रत्यक्ष कार्य का आदर्श प्रस्तुत करने वाले कर्मयोगी को यहाँ कहीं अधिक महत्व प्रदान किया जाता है । आचार्य शुक्ल के अनुसार महत्व वास्तव मे प्रत्यक्ष कर्म का है, कथनी की अपेक्षा करनी का है, एकल उपदेश की अपेक्षा व्यावहारिक प्रयोग का है । यहाँ ऐसे वैरागी उपदेशक भी मिलते हैं जो जीवन में कभी प्रवृत्त हुए हो नहीं, फिर भी जीवन मे व्यवहार का उपदेश देते हैं, ऐसे विरक्त भी मिलते हैं जो स्वय संसार से तटस्थ रहे, प्रत्यक्ष जीवन के हर्ष-विषाद, विषमता-विडबना से सर्वथा असम्पृक्त एवं अपरिचित रह कर सुख-शांतिपूर्वक एकांतवास करते रहे लेकिन फिर भी लोक-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश देते हैं । परन्तु हिन्दू धर्म की कर्म-प्रधान व्यावहारिक दृष्टि उनको विशेष महत्व नहीं देती । उसमें विशेष महत्व प्रवृत्तिमार्गी कर्मयोगी को प्रदान किया जाता है, उस कर्मठ को प्रदान किया जाता है जो संसार मे प्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्त-प्रविष्ट होकर व्यावहारिक लोक-जीवन के बीच उसके हर्ष-विषाद, उसकी भीषणता-मरसता, विषमता-विडबना को झेलता हुआ लोक मे मगल का विधान करता है, उपदेश को प्रत्यक्ष कर्म-रूप में परिणत करके उसके सौंदर्य को उद्घाटित करता है । 'सात्विक विभूति की ज्योति' अर्थात् निस्पृह, निस्वार्थ लोकमंगल विधायक कर्मों के सौंदर्य की छटा । हिन्दू धर्म मे उपदेशक और अवतार भिन्न-भिन्न इकाइयाँ हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व हैं, दोनो एक ही नहीं हैं । उपदेशक को अवतार नहीं माना गया है । उपदेशक केवल उपदेश देता है, वह उन पर अमल करके कर्म के सौंदर्य का आदर्श प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत नहीं करता । परंतु ईश्वर का अवतार केवल उपदेश नहीं देता बल्कि वह अपने प्रत्यक्ष आचरण द्वारा, उपदेशों को अपने व्यावहारिक कर्मो में घटित करके उनके सौंदर्य का उद्घाटन करता है । कर्म-सौंदर्य का विधान उपदेशों से नहीं, ठोस व्यावहारिक कर्मों से होता है । उनके प्रत्यक्ष कर्मों का सौंदर्य एवं माधुर्य ही समाज के लिए प्रेरक होता है तथा समाज को विमुग्ध करता है ।

टिप्पणी

(क) आचार्य शुक्ल ने विषय-प्रधान निबंधों में शैली के अतिरिक्त विषय के स्तर पर भी लेखकीय व्यक्तित्व का हस्तक्षेप स्वीकार किया है । प्रस्तुत अनुच्छेद इसका अच्छा उदाहरण है । निबंध का मूल-विवेच्य 'श्रद्धा और भक्ति' है । परतु लेखक अपनी मानसिक बनावट और प्रवृत्ति के अनुसार, स्वच्छंदतापूर्वक राम-लीला और कृष्ण-लीला, हिन्दू-धर्म और संस्कृति, कर्मयोगी और उपदेशक, कर्म का महत्व आदि विविध सम्बंध-सूत्रों पर विचरता हुआ मूल विवेच्य की ओर अग्रसर होता है । इससे आचार्य शुक्ल का पांडित्य, भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी सजगता और गौरव-भाव आदि भी व्यंजित होते हैं ।

(ख) 'हमारे यहाँ' पद के प्रयोग से आचार्य शुक्ल भारतीय परम्पराओ के प्रति अपनी गहरी आत्मीयता व्यक्त करते है तथा अन्य भारतीयो की आत्मीयता जगाना भी चाहते है ।

करुणा

(7) मनुष्य की प्रकृति मे शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है । मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियो के साथ उसके सम्बन्ध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है । यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान मे अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में नही आएगा । उसके सब कर्म निर्लिप्त होगे । ससार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दु:ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है । अत. सबके उद्देश्य को एक साथ जोडने से ससार का उद्देश्य सुख की स्थापना और दु:ख का निराकरण हुआ, अत: जिन कर्मो से ससार के उस उद्देश्य के साधन हो वे उत्तम हैं ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारो का विवेचन समाज और लोकजीवन के सदर्भ मे भी करते है और इस विवेचन को अनिवार्यतया कर्म से सम्बद्ध कर देते हैं । दूसरी बात यह है कि वे मनुष्य के चरित्र में शील और सात्विकता के सद्भाव को अत्यत आवश्यक मानते हैं तथा सामाजिक जीवन के सदर्भ मे उनको विशेष महत्व देते हैं ।

'करुणा' शीर्षक निबन्ध के आलोच्य अनुच्छेद में आचार्य शुक्ल व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक संदर्भ मे करुणा नामक मनोविकार के महत्व का निर्वचन करते हैं ।

उनके अनुसार 'शील' और 'सात्विकता' व्यक्ति चरित्र की श्रेष्ठता के आधारभूत घटक हैं । सामान्यतया सद्वृत्ति, चित्त की कोमलता आदि को शील कहा जाता है परंतु विशेष रूप मे 'शील' मानव-चरित्र की वह विभूति है, एक ऐसी विशिष्ट स्थायी भाव-दशा है जिसके अतर्गत मनुष्य अपने आचरण द्वारा दूसरे के सभाव्य दु:ख का ध्यान या अनुमान करके ऐसी बातो से बचने का उपक्रम करता है जिनसे अकारण दूसरो को दु.ख पहुँचे । सात्विकता का सम्बन्ध सत्व से, सत् से है । निस्वार्थ भाव से किए गए लोकसग्रहपरक सद्कर्म और ऐसे सद्कर्मों की प्रेरक वृत्ति 'सात्विकता' के अतर्गत रखी जायगी । चरित्र की श्रेष्ठता-विधायक यह भावदशा प्रकृतस्थ हो जाने पर शील कहलाती है । आचार्य शुक्ल मानते हैं कि करुणा ही वह भाव है जो मानव-स्वभाव मे शील और सात्विकता को मूलत: सम्यक् रूप में स्थापित कर देती है । मनुष्य की चारित्रिक विशेषता और उसके स्वभाव की शुभाशुभता सामाजिक व्यवहार से ही प्रकट होती है । जब वह समाज मे अन्य प्राणियों से सम्बन्ध स्थापित करेगा, उनके साथ व्यवहार करेगा तभी यह पता चल सकेगा कि वह सज्जन है या दुर्जन । अत: व्यक्ति की सज्जनता-दुर्जनता, उसके स्वभाव की शुभाशुभता समाज-सापेक्ष है । जनशून्य एकान्त मे केवल अपने सदर्भ में किए गए व्यक्ति के कार्य शुभाशुभ नहीं कहलाते, उनके आधार पर व्यक्ति को सज्जन या दुर्जन नहीं कहा जा सकता । व्यक्ति की शुभाशुभता उसके सामाजिक ससर्ग, उसकी सामाजिक सपृक्ति पर ही निर्भर है । सम्भवत: इसीलिए आचार्य शुक्ल उसके

का विवेचन सदर्भ मे करते हैं

का समावेश है । यहाँ संसार का त्याग करके, घर-बार से विरक्त होकर, एकांत में जप-तप करने, धूनी रमाने, साधना करने वाले जती-जोगी, वैरागी-सयासी, ऋषि-मुनि भी है और संसार मे प्रवृत्त होकर, घर-गृहस्थी, समाज-परिवार के प्रपंच के बीच रह कर कर्म-सौंदर्य की प्रभा विकीर्ण करने वाले महापुरुष, महात्मा और कर्मयोगी भी हैं । समाज का मार्ग-दर्शन करते हुए समाज में सुख-शाति की कामना करने के कारण हिन्दू धर्म में मान-सम्मान दोनों को प्राप्त है । परंतु विरक्त की अपेक्षा अनुरक्त को, संसार से तटस्थ वैरागी उपदेशक की अपेक्षा ससार मे प्रवृत्त होकर लोकजीवन के बीच अपने प्रत्यक्ष कार्य का आदर्श प्रस्तुत करने वाले कर्मयोगी को यहाँ कहीं अधिक महत्व प्रदान किया जाता है । आचार्य शुक्ल के अनुसार महत्व वास्तव मे प्रत्यक्ष कर्म का है, कथनी की अपेक्षा करनी का है, एकल उपदेश की अपेक्षा व्यावहारिक प्रयोग का है । यहाँ ऐसे वैरागी उपदेशक भी मिलते हैं जो जीवन मे कभी प्रवृत्त हुए हो नहीं, फिर भी जीवन मे व्यवहार का उपदेश देते हैं, ऐसे विरक्त भी मिलते हैं जो स्वयं संसार से तटस्थ रहे, प्रत्यक्ष जीवन के हर्ष-विषाद, विषमता-विडबना से सर्वथा असम्पृक्त एव अपरिचित रह कर सुख-शातिपूर्वक एकांतवास करते रहे लेकिन फिर भी लोक-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश देते हैं । परन्तु हिन्दू धर्म की कर्म-प्रधान व्यावहारिक दृष्टि उनको विशेष महत्व नहीं देती । उसमे विशेष महत्व प्रवृत्तिमार्गी कर्मयोगी को प्रदान किया जाता है, उस कर्मठ को प्रदान किया जाता है जो संसार में प्रत्यक्ष रूप से प्रवृत्त-प्रविष्ट होकर व्यावहारिक लोक-जीवन के बीच उसके हर्ष-विषाद, उसकी भीषणता-सरसता, विषमता-विडबना को झेलता हुआ लोक मे मगल का विधान करता है, उपदेश को प्रत्यक्ष कर्म-रूप मे परिणत करके उसके सौंदर्य को उद्घाटित करता है । 'सात्विक विभूति की ज्योति' अर्थात् निस्पृह, निस्वार्थ लोकमगल विधायक कर्मो के सौंदर्य की छटा । हिन्दू धर्म मे उपदेशक और अवतार भिन्न-भिन्न इकाइयाँ हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व हैं, दोनो एक ही नहीं हैं । उपदेशक को अवतार नहीं माना गया है । उपदेशक केवल उपदेश देता है, वह उन पर अमल करके कर्म के सौंदर्य का आदर्श प्रत्यक्ष रूप मे प्रस्तुत नहीं करता । परंतु ईश्वर का अवतार केवल उपदेश नहीं देता बल्कि वह अपने प्रत्यक्ष आचरण द्वारा, उपदेशों को अपने व्यावहारिक कर्मों में घटित करके उनके सौंदर्य का उद्घाटन करता है । कर्म-सौंदर्य का विधान उपदेशों से नहीं, ठोस व्यावहारिक कर्मों से होता है । उनके प्रत्यक्ष कर्मों का सौंदर्य एवं माधुर्य ही समाज के लिए प्रेरक होता है तथा समाज को विमुग्ध करता है ।

टिप्पणी

(क) आचार्य शुक्ल ने विषय-प्रधान निबंधो में शैली के अतिरिक्त विषय के स्तर पर भी लेखकीय व्यक्तित्व का हस्तक्षेप स्वीकार किया है । प्रस्तुत अनुच्छेद इसका अच्छा उदाहरण है । निबंध का मूल-विवेच्य 'श्रद्धा और भक्ति' है । परंतु लेखक अपनी मानसिक बनावट और प्रवृत्ति के अनुसार, स्वच्छंदतापूर्वक राम-लीला और कृष्ण-लीला, हिन्दू-धर्म और संस्कृति, कर्मयोगी और उपदेशक, कर्म का महत्व आदि विविध सम्बंध-सूत्रों पर विचरता हुआ मूल विवेच्य की ओर अग्रसर होता है । इससे आचार्य शुक्ल का पांडित्य, भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी सजगता और गौरव-भाव आदि भी व्यंजित होते हैं ।

(ख) 'हमारे यहाँ' पद के प्रयोग से आचार्य शुक्ल भारतीय परम्पराओ के प्रति अपनी गहरी आत्मीयता व्यक्त करते हैं तथा अन्य भारतीयो की आत्मीयता जगाना भी चाहते हैं ।

करुणा

(7) मनुष्य की प्रकृति मे शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है । मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियो के साथ उसके सम्बन्ध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है । यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान मे अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि मे नहीं आएगा । उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे । संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दु:ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है । अत: सबके उद्देश्य को एक साथ जोडने से संसार का उद्देश्य सुख की स्थापना और दु.ख का निराकरण हुआ, अत: जिन कर्मो से संसार के उस उद्देश्य के साधन हो वे उत्तम है ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारो का विवेचन समाज और लोकजीवन के सदर्भ मे भी करते हैं और इस विवेचन को अनिवार्यतया कर्म से सम्बद्ध कर देते है । दूसरी बात यह है कि वे मनुष्य के चरित्र मे शील और सात्विकता के सद्भाव को अत्यत आवश्यक मानते है तथा सामाजिक जीवन के संदर्भ में उनको विशेष महत्व देते है ।

'करुणा' शीर्षक निबन्ध के आलोच्य अनुच्छेद में आचार्य शुक्ल व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक सदर्भ में करुणा नामक मनोविकार के महत्व का निर्वचन करते हैं ।

उनके अनुसार 'शील' और 'सात्विकता' व्यक्ति चरित्र की श्रेष्ठता के आधारभूत घटक हैं । सामान्यतया सद्वृत्ति, चित्त की कोमलता आदि को शील कहा जाता है परंतु विशेष रूप मे 'शील' मानव-चरित्र की वह विभूति है, एक ऐसी विशिष्ट स्थायी भाव-दशा है जिसके अतर्गत मनुष्य अपने आचरण द्वारा दूसरे के सभाव्य दु:ख का ध्यान या अनुमान करके ऐसी बातो से बचने का उपक्रम करता है जिनसे अकारण दूसरों को दु ख पहुँचे । सात्विकता का सम्बन्ध सत्व से, सत् से है । निस्वार्थ भाव से किए गए लोकसग्रहपरक सद्कर्म और ऐसे सद्कर्मो की प्रेरक वृत्ति 'सात्विकता' के अतर्गत रखी जायगी । चरित्र की श्रेष्ठता-विधायक यह भावदशा प्रकृतस्थ हो जाने पर शील कहलाती है । आचार्य शुक्ल मानते हैं कि करुणा ही वह भाव है जो मानव-स्वभाव मे शील और सात्विकता को मूलत: सम्यक् रूप मे स्थापित कर देती है । मनुष्य की चारित्रिक विशेषता और उसके स्वभाव की शुभाशुभता सामाजिक व्यवहार से ही प्रकट होती है । जब वह समाज मे अन्य प्राणियों से सम्बन्ध स्थापित करेगा, उनके साथ व्यवहार करेगा तभी यह पता चल सकेगा कि वह सज्जन है या दुर्जन । अत. व्यक्ति की सज्जनता-दुर्जनता, उसके स्वभाव की शुभाशुभता समाज-सापेक्ष है । जनशून्य एकान्त मे केवल अपने सदर्भ में किए गए व्यक्ति के कार्य शुभाशुभ नहीं कहलाते, उनके आधार पर व्यक्ति को सज्जन या दुर्जन नहीं कहा जा सकता । व्यक्ति की शुभाशुभता उसके सामाजिक ससर्ग, उसकी सामाजिक सपृक्ति पर ही निर्भर है । सभवत: इसीलिए आचार्य शुक्ल उसके

का विवेचन सदर्भ म करते हैं

जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाशीलता की स्वाभाविक दिशा क्या है ? उत्तर यह है कि मनुष्य दु:ख से बचना चाहता है और सुख पाना चाहता है । सामान्यतया यही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य माना जा सकता है । अत: मानव-समूह का सामूहिक उद्देश्य भी दु ख का निराकरण और सुख का संचय है । जिन कर्मो से इस उद्देश्य की सिद्धि होती है, वह लोक मगलपरक कार्यों की साधिका है ।

टिप्पणी

(क) आचार्य शुक्ल करुणा, शील आदि को इतना अधिक महत्व देते है कि उन्होने अपने निबंधों में, रस-मीमासा मे, स्थान-स्थान पर इनकी चर्चा की है और इनकी गरिमा का प्रतिपादन किया हे ।

उनके अनुमार करुणा एक दु:ख-मूलक भाव है, वह दु:ख का ही एक भेद है । उसका अस्तित्व समाज-सापेक्ष है, दूसरों का दु:ख ही करुणा का विषय है । वे "सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक" मानते हैं । उनके अनुसार करुणा की आवश्यकता जीवन-निर्वाह की सुगमता के लिए है और मनुष्य बनने के लिए शील की जरूरत होती है ।

(8) प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी ससार है । जिन कर्मो से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दु.ख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक है तथा जिस अंत:करण वृत्ति से इन कर्मो मं प्रवृति हो वह सात्विक है । कृपा या अनुग्रह से भी दूसरो के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा या अनुग्रह मे आत्म-भाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है । दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दु:ख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारों का विवेचन व्यक्ति और समाज के सदर्भ मे भी करते हे और इस विवेचन को अनिवार्यतया कर्म से सम्बद्ध कर देते है । व्यक्ति और समाज की सापेक्षता में वे दो मनोविकारो का तुलनात्मक विवेचन करके दोनो की मूल्यवत्ता का सापेक्षिक आकलन भी प्रस्तुत करते है ।

'करुणा' शीर्षक निबन्ध के आलोच्य अनुच्छेद में भी इन्हीं प्रसंगो पर चर्चा की गई है । उन्होंने प्रस्तुत निबन्ध मे पहले भी उल्लेख किया है और यहाँ पुन: कहते है कि कर्मों की शुभाशुभता और चरित्र की श्रेष्ठता आदि का मूल्याकन और निर्धारण समाज के व्यापक सदर्भ में ही किया जा सकता है । 'ससार' किसे कहते हैं ? आचार्य शुक्ल अपने ढंग से संसार की परिभाषा प्रस्तुत करते है । समस्त आत्मेतर प्राणिसत्ता संसार है । प्रत्येक प्राणी और सामूहिक रूप से ससार के समस्त प्राणियों के जीवन का उद्देश्य दु:ख का निराकरण और सुख का संचय है । अत: जो कर्म समस्त आत्मेतर प्राणिजगत के दु:ख के निवारक और सुख के साधक हैं वे ही शुभ कहलाते है । निस्वार्थ कर्म का क्या महत्व है ? स्वार्थ-साधक कर्म शुभ या सात्विक नहीं कहलाते । कर्मों की शुभता-सात्विकता का मापदण्ड परार्थ है निस्वार्थ अहेतुक लोक संग्रह है यह आचार्य शुक्ल का निजी पैमाना है उनकी निजी

दृष्टि है, मनोविज्ञानशास्त्र का निष्कर्ष नहीं । वृत्ति की सात्विकता का निर्धारण भी परार्थ से ही होता है : लोक-संग्रह ही सात्विक कर्म है, चरित्र की श्रेष्ठता का विधायक है । करुणा इसी वृत्ति की सम्यक् रूप से स्थापना करती है ।

परतु कृपा या अनुग्रह मे भी दूसरे के सुख की योजना की जाती है । अतः करुणा ओर कृपा में क्या तारतम्य है ? आचार्य शुक्ल अपनी मर्मभेदी दृष्टि और गहन विश्लेषण-क्षमता के आधार पर कृपा की विशेषता बताते हैं, और ऐसे ढग से बताते है कि करुणा मे उसका अतर स्वतः स्पष्ट हो जाता है । अर्न्तनिर्देश का एक आधार अहंभाव की चेतना है । कृपा या अनुग्रह मे कृपा करने वाले का अहंभाव छिपा रहता है, उसमे इस बात की चेतना एवं सजगता रहती है कि मै कृपा कर रहा हूँ, मेरे पास शक्ति ओर सामर्थ्य है, कृपा पात्र अशक्त है, मेरी कृपा प्राप्त करके कृपा-पात्र सुख संचय करेगा । इसके अतिरिक्त, कृपा की प्रेरकता एक प्रकार से बदले के रूप मे प्रत्यक्ष होती है । कृपापात्र दुखी था, सहायता या उद्धार की कामना और याचकता के साथ दीन-हीन भाव से कृपा करने वाले की शरण मे आया, उसके चरणो पर गिरा, तो कृपा करने वाले ने बदले में कृपापूर्वक उसकी सहायता की, उसके दु:ख का निवारण करके उसे सुख-संतोष प्रदान किया । करुणा की प्रेरकता मे करुणा करने वाले के अहं-भाव के परितोष या प्रतिकार-भावना की उपस्थिति आदि जैसा कुछ भी नहीं होता । इसलिए कृपा की अपेक्षा करुणा अधिक उदात्त और सात्त्विक भाव है । दूसरी बात यह है कि उपस्थित दु:ख का निराकरण प्राथमिक आवश्यकता होती है, नय सुख की योजना उतनी आवश्यक नहीं होती । करुणा उपस्थित दु:ख का निवारण करके सुख की योजना करती है ।

टिप्पणी

(क) व्यक्ति और लोक-जीवन के संदर्भ में स्वानुभव के आधार पर किया गया एकल मनोविकार का अथवा दो मनोभावों का तुलनात्मक विवेचन-विश्लेषण मनोविकार-विषयक इन निबंधों का वैशिष्ट्य है । यही वैशिष्ट्य इन निबंधों को साहित्यिक निबंध का पद प्रदान करता है ।

(9) ससार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रख कर नही की जाती, बल्कि मन की स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से की जाती है । दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की सम्भावना है, इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नही रहता । ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वय रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चचल और मुण्डे- मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारों का विवेचन व्यक्ति और समाज के संदर्भ मे भी करते है और इस क्रम में नाना प्रकार की रोचक समस्याएँ उठाकर उन पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करते हैं ।

'करुणा' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने इसी प्रकार का एक रोचक प्रश्न उठाया है कि

समाज में लोग एक-दूसरे की सहायता क्यों करते हैं ? 'परस्पर सहायता' की फिलॉसफी क्या है ? इस संदर्भ में उन्होंने पश्चिमी समाजशास्त्रियो का हवाला देते हुए बताया है कि उनके अनुसार वे परस्पर सहायता अपनी रक्षा के विचार से करते हैं ।

आचार्य शुक्ल पश्चिमी समाजशास्त्रियों के मत से सहमत नहीं हैं । उल्लिखित निबंध की आलोच्य पंक्तियों में वे इस बारे मे अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करते हैं । उनका मत है कि परस्पर सहायता के दो रूप हमारे सामने आते हैं । एक मे बुद्धि सजगतापूर्वक विचार-विवेचन करके एक निश्चित परिणाम पर पहुँचती है, जिसके आधार पर सहायता के हेतु का निर्धारण होता है । दूसरे में सहायता मन की स्वतः-स्फूर्ति प्रवृत्ति से की जाती है । पहला रूप पश्चिमी समाजशास्त्रियो के मत के अतर्गत है, जिसको शुक्ल जी अस्वीकार कर देते हैं : वे यह नहीं मानते कि परस्पर सहायता मे व्यक्ति सजगतापूर्वक यह सोचकर प्रवृत्त होता है कि मैं उसकी सहायता करूँगा तो वह भी मेरी सहायता करेगा : यदि आज उसकी मुसीबत मे मै उसकी सहायता नहीं करूँगा तो कल मेरी आपत्ति-विपत्ति में वह मेरी सहायता नहीं करेगा, और मैं अकेला, अरक्षित रह जाऊँगा, इसलिए मुझे उसकी सहायता करनी चाहिए । इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया की श्रृखला तैयार करके उसका विवेचन करते हुए भविष्य के परिणाम को ध्यान में रख कर बुद्धि के आधार पर दूसरे की सहायता मे प्रवृत्त होने की बात शुक्ल जी नहीं स्वीकारते । उनका मत है कि परस्पर सहायता की प्रेरक बुद्धि नहीं, मन की कोई भाव वृत्ति है जो दूसरे को कष्ट में देख कर या दूसरे के कष्ट की संभावना या उसका अनुमान करके दूसरे की सहायता के लिए स्वतः प्रवृत्त हो जाती है । यह निस्वार्थ स्वतःस्फूर्त वृत्ति निश्चय ही सात्विकी करुणा होती है ।

सहायता करने वाले भी दो प्रकार के होते है : एक वे जो दूसरे की सहायता में अपनी स्वार्थ-सिद्धि की सभावना देखकर बुद्धि-बल से सहायता मे प्रवृत्त होते है । दूसरे वे जो सर्वथा निस्वार्थ-निष्काम भाव से मानसिक वृत्ति विशेष की स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से दूसरे की सहायता करते हैं । आचार्य शुक्ल इन्हीं को 'सच्चा सहायक' कहते हैं । इनकी वृत्ति सात्विक होती है । ये किसी प्रकार के स्वार्थ-साधन की कामना से दूसरे की सहायता मे कभी प्रवृत्त नहीं होते, इनकी सहायता सर्वथा निस्वार्थ तथा अहेतुकी होती है ।

तब प्रश्न उठता है कि क्या सोद्देश्य सहायता निरर्थक और अकाम्य है ? आचार्य शुक्ल इस मुद्दे पर भी अपना मौलिक मत प्रस्तुत करते हैं । उनका यह मत वैज्ञानिक भी है और आध्यात्मिक भी । प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है--यह वैज्ञानिक सत्य है । दूसरे के हित मे कोई क्रिया की जायगी तो उसकी भी प्रतिक्रिया निश्चय ही होगी और यह प्रतिक्रिया कर्त्ता के लिए अहितकर नहीं होगी, यह भी निश्चित है (अपवादो को छोड़कर) । इसलिए सोद्देश्य सहायता त्याज्य, निरर्थक अथवा अकाम्य नहीं है । इसका भी पुरस्कार है । परंतु शुक्ल जी का मत है कि पुरस्कार की आकांक्षा अथवा उसका निर्णय व्यक्ति का कर्त्तव्य नहीं है । सृष्टि कतिपय सिद्धांतों और वृहत्तर नियमो पर टिकी हुई है, विश्व का संचालन अंतर्निहित महाशक्ति कतिपय मूल्यों और नियमो के तहत करती है । इसी प्रक्रिया मे वह सभी प्रकार के न्यायों और उद्देश्यों की चिंता और सभी करणीय कार्य स्वयं करती रहती है । मनुष्य की बुद्धि बड़ी चचल है वह कभी कुछ सोचती है, तो कभी कुछ । उसमे एकरूपता भी नहीं

होती । एक ही वस्तु के बारे मे एक आदमी कुछ सोचता-समझता है, दूसरा आदमी कुछ ओर व्यक्ति-व्यक्ति की समझ में अतर है । पता नहीं दूसरों को दी गई किसी सहायता का कितना और कैसा प्रतिफल एक व्यक्ति चाहता है तथा कितना और कैसा दूसरा व्यक्ति । एक व्यक्ति एक समय मे कितना और कैसा प्रतिफल चाहता है और दूसरे समय मे कितना ओर कैसा । अत. इस प्रकार के बुद्धि चांचल्य, वैमत्य और वैभिन्न्य की स्थिति में न्याय और वृहत्तर उद्देश्य-सपादन जैसा महत्वपूर्ण कार्य विश्वात्मा मनुष्य पर छोडती भी नहीं ।

तो, आचार्य शुक्ल के प्रस्तुत मत में वैज्ञानिकता यह है कि यह क्रिया-प्रतिक्रिया के वैज्ञानिक सिद्धात पर आश्रित है, और आध्यात्मिकता यह है कि इसमे विश्वात्मा की परिकल्पना और विश्व के संचालन में उसकी भूमिका स्वीकार की गई है ।

टिप्पणी

(क) करुणा पर विचार करने की प्रक्रिया मे आचार्य शुक्ल 'परस्पर सहायता' की वृत्ति, उसके सामाजिक संदर्भ और उद्देश्य तथा 'विश्वात्मा' की भी चर्चा करने लगते हैं ।

(ख) आचार्य शुक्ल को विशुद्ध भौतिकवादी नहीं माना जा सकता । 'विश्वात्मा' की परिकल्पना निश्चित रूप से उनके आत्मवाद की व्यंजक है ।

(ग) करुणा के सामाजिक महत्व का प्रतिपादन ।

(घ) शुक्ल जी समाजशास्त्र के पश्चिमी विद्वानो के निष्कर्षों को अंधभाव से स्वीकार नहीं करते । वे उनको अस्वीकार भी कर देते हैं और उनके स्थान पर अपने निजी विचारों का प्रतिपादन भी करते हैं । यह उनकी निर्भीकता और उनके आत्म-विश्वास का व्यजक है ।

(च) प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण अथवा उसकी पुष्टि के लिए शुक्ल जी प्राय: सस्कृत श्लोक अथवा श्लोकाश भी उद्धृत करते हैं ।

लज्जा और ग्लानि

(10) दूसरों के हृदय में अज्ञान की प्रतिष्ठा करके वे उसकी शरण मे जाते हैं । पर अज्ञान, चाहे अपना हो चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता । बलि पशु होकर ही हम उसके आश्रय में पलते हैं । जीवन के किसी अग की यदि वह रक्षा करता है तो उसे सवाग भक्षण के लिए । अज्ञान अधकार स्वरूप है । दीया बुझाकर भागने वाला यदि समझता है कि दूसरे उसे देख नहीं सकते, तो उसे यह भी समझ रखना चाहिए कि वह ठोकर खाकर गिर भी सकता है ।

आचार्य शुक्ल मनोविकार विशेष के विवेचन के साथ-साथ उसके भेदो-प्रभेदों, उसकी छायाओं तथा उसके समकक्ष मनोविकारों आदि की भी चर्चा करते चलते हैं । इस प्रसंग को वे मनोविज्ञान, साहित्य, व्यक्ति, समाज, लोकजीवन, लोकमर्यादा, लोकव्यवहार, राजनीति, नैतिकता आदि से जोड़कर विवेचन को विस्तृत आयाम प्रदान करते हैं ।

'लज्जा और ग्लानि' शीर्षक निबन्ध मे भी इस प्रकार के संदर्भ उपस्थित किए गए हैं । लज्जा के बारे मे बताया गया है कि यह वृत्तियो का एक प्रकार का सकोच है जो दूसरों के चित्त मे अपने विषय में बुरी धारणा के निश्चय या आशंका मात्र से उत्पन्न होता है । सामाजिक व्यवहार में यह समझकर कि हम दूसरों को अच्छे नहीं लगते, हम लज्जित होने लगते हैं ।

सामाजिक व्यवहार के बीच उत्पन्न इस प्रकार की स्थिति की अनेक प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं । प्रस्तुत निबन्ध की आलोच्य पक्तियो में आचार्य शुक्ल इसी प्रकार की एक विशिष्ट प्रतिक्रियात्मक स्थिति का उल्लेख करते हुए उसके विषय मे अपने निजी विचार व्यक्त करते हैं ।

यदि किसी व्यक्ति को अपने बारे में लज्जा की किसी स्थिति के उपस्थित होने की आशका होती है तो वह यह प्रयत्न कर सकता है कि वैसी स्थिति उत्पन्न ही न हो । वह यह प्रयत्न कर सकता है कि उसकी जो बातें दूसरों को अच्छी नहीं लगतीं, बुरी लगती हैं, उनको वह दूसरे लोगों से दूर रखे, दूसरों की दृष्टि ही उन पर न पड़ने दे । दूसरो से अपनी अप्रीतिकर बाते बचा लेने पर न तो उसे लज्जित होना पड़ेगा और न वह कभी निर्लज्ज कहा जा सकेगा ।

लेकिन, आचार्य शुक्ल चेतावनी के लहजे मे कहते है कि यह स्थिति कोई सुरक्षित या काम्य स्थिति नहीं होती । ऐसे लोग क्या करते है ? --ऐसे लोग दूसरो को अपने बारे मे अँधेरे में रख कर, दूसरो के हृदय मे अपने असली व्यक्तित्व और चरित्र के विषय मे अज्ञान का वातावरण उत्पन्न करके उस अज्ञान की छत्रछाया मे लोकव्यवहार में प्रवृत्त होते हैं और अपने को सुरक्षित समझते है ।

परंतु, आचार्य शुक्ल सावधान करते है कि यह स्थिति बडी खतरनाक है । अज्ञान सदा रक्षा नहीं कर सकता । दूसरों को अज्ञान की स्थिति में रख कर अपनी सुरक्षा की कामना प्रवचना है और स्वय अपने बारे में अज्ञानी बने रहना, अपने को अपने से छिपाना तो घातक है ही,--जैसे बलि पशु । उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि शीघ्र ही उसकी बलि दी जाने वाली है । उसको खूब हरा-हरा, कोमल-कोमल चारा दिया जाता है जिससे वह हृष्ट-पुष्ट और प्रफुल्ल होता रहता है । उसको यह गुमान नहीं होता कि यह चारा उसको किस नियति की ओर ले जा रहा है । इसी प्रकार, अज्ञान के आश्रय में पलने वाला व्यक्ति अपनी अंतिम गति से अनभिज्ञ रहता है । कुछ समय तक तो उसका पोषण होता रहता है, वह पुष्ट-प्रसन्न बना रहता है पर अंत में विनाश को प्राप्त होता है । अपने वास्तविक चरित्र से दूसरों को अनभिज्ञ रख कर, अपनी दुष्टता से दूसरों को बेखबर रख कर वह कुछ समय तक लज्जित होने, निर्लज्ज कहलाने और अपमानित-प्रताड़ित होने से बच सकता है, पर सदा नहीं । कुछ समय के लिए उसकी इज्जत बची रह सकती है, उसके जीवन का अंग विशेष सुरक्षित रह सकता है पर अज्ञान के अँधेरे मे इस बीच वह जो काली करतूतें करता रहा है वे उसका सर्वस्व भक्षण कर जायँगी, उसे पूरा निगल जायँगी ।

आचार्य शुक्ल कहते हैं कि अंधकार अज्ञानस्वरूप है । अंधकार में वस्तु का स्वरूप उजागर नहीं हो पाता । इसी प्रकार अज्ञान भी अंधकार है, उसमें व्यक्ति बुद्धि-विवेक से शून्य हो जाता है और वस्तु-व्यापारो की वास्तविक गति का बोध प्राप्त नहीं कर पाता ।

प्रकाश का वारण करके अंधकार मे अपने को सुरक्षित समझने वाले को आचार्य शुक्ल अपने विशिष्ट लहजे मे चेतावनी देते हैं कि यह स्थिति भ्रामक और विनाशकारी हो सकती है । दीया बुझाकर अधकार का वातावरण उत्पन्न करके उसमे भागने वाला यह समझ सकता है कि अँधेरे मे लोग उसको देख नहीं पाएँगे और वह सुरक्षित भाग निकलेगा, पर वह यह नहीं समझ पा रहा है कि अँधेरे में उसको खुद अपना रास्ता भी नहीं सूझेगा, वह ठोकर खा कर गिर सकता है और स्वय अपना ही विनाश कर सकता है ।

अतएव, बुराई से बचना ही श्रेयस्कर और काम्य है, दूसरो को उसके बारे मे अधकार मे रखना उचित नहीं है ।

टिप्पणी

(क) मनोविकार का इस प्रकार मनोवैज्ञानिक, नैतिक-सामाजिक विवेचन कोई मनोविज्ञान-शास्त्री नहीं करेगा । इसलिए आचार्य शुक्ल के ये निबंध मनोवैज्ञानिक तो है पर वे शुद्ध मनोवैज्ञानिक निबध नहीं है अपितु साहित्यिक-सामाजिक-मनोवैज्ञानिक निबंध हैं ।

(ख) प्रस्तुत निबंध में आचाय शुक्ल जो चेतावनी की मुद्रा अपनाते हैं वह भी कोई मनोविज्ञान-शास्त्री नहीं करेगा । यह तो आचार्य शुक्ल का विशिष्ट व्यक्तित्व हे, द्विवेदीयुगीन मर्यादाप्रियता एवं उपदेशात्मकता है, जो आचार्य शुक्ल से यह सब करवाती है ।

(ग) यहाँ आचार्य शुक्ल की सूत्र शैली और लाक्षणिक शैली दोनो द्रष्टव्य हैं । "अज्ञान अधकार स्वरूप है"--यह एक सूत्र-वाक्य है । इसकी सिद्धि की पृष्ठभूमि मे तथा इसी प्रकार अगले वाक्य "दीया बुझाकर . " की निष्पन्नता की पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल का व्यापक जीवनानुभव, प्रखर आत्मविश्वास एव उनकी बौद्धिक सजगता दृष्टव्य है । प्रस्तुत अनुच्छेद के परिप्रेक्ष्य में अंतिम वाक्य लाक्षणिक शैली का श्रेष्ठ उदाहरण है ।

(11) आँख खुलने पर जो आँख खोलने वालो को ही देख सके, उनकी आँख की दुरुस्ती मे बहुत कसर समझनी चाहिए । अपमान या हानि की जो ग्लानि उस अपमान या हानि ही तक ध्यान को ले जाय--उसके कारण तक न बढ़ाए--वह बुराई के मार्ग पर चल चुकने वालो का थोड़ी देर के लिए पैर थाम या बल तोड सकती है, पर उनका मुँह दूसरी ओर मोड़ नहीं सकती ।

आचार्य शुक्ल युग्मक के रूप में भी मनोविकारो पर विचार करते हैं । इस क्रम मे वे उनके तारतम्य का निरूपण करने के अतिरिक्त उनके भेदों-प्रभेदों आदि की भी चर्चा करते चलते हैं । इस चर्चा को वे मनोविज्ञान, साहित्य, समाज, व्यक्ति, लोक आदि से जोडकर सारे विवेचन को व्यापक फलक प्रदान करते हैं ।

'लज्जा और ग्लानि' शीर्षक निबध मे लज्जा का प्रारंभिक विवेचन करने के अनन्तर शुक्ल जी ग्लानि की चर्चा करते हुए कहते हैं कि ग्लानि वृत्तियों का शैथिल्य है जो अपनी

बुराई, मूर्खता आदि का एकांत अनुभव करने से उत्पन्न होता है। ग्लानि का अनुभव हर एक को नहीं होता, केवल सात्विक वृत्तिवाले ही इसका अनुभव करते हैं।

लोक-व्यवहार में ग्लानि के अनुभव के संदर्भ में वे मनुष्यों की दो कोटियाँ बनाते हुए कहते हैं कि उत्तम कोटि का व्यक्ति अपने दुष्कर्म पर ही ग्लानि का अनुभव करने लगता है। परन्तु मध्यम कोटि के व्यक्ति को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि नहीं होती बल्कि जब कोई व्यक्ति उसका ध्यान उसके कर्म की बुराई की ओर खींचता है और उसके लिए उसे अपमानित करता है या उसको कोई और कड़ुआ फल चखाता है तब उसको अपने कुकर्म पर ग्लानि का अनुभव होता है। यह व्यक्ति प्रायः वह होता है जो उसके दुष्कर्म का शिकार हुआ रहता है।

उल्लिखित निबन्ध के आलोच्य अनुच्छेद में आचार्य शुक्ल प्रस्तुत संदर्भ की एक विशिष्ट संभाव्य स्थिति की चर्चा करते हैं।

कुकर्मी को अपने कर्म की बुराई एवं भीषणता का बोध होने तथा उसका दण्ड भोगने पर उसकी प्रतिक्रिया के कई रूप हो सकते हैं। एक रूप यह हो सकता है कि दुष्कर्मी अपने अपमान, अपनी हानि या दुर्गति पर क्षुब्ध होकर ग्लानि का अनुभव करे और केवल यह देखे कि उसकी यह दुर्गति हुई और इस व्यक्ति ने उसकी यह दुर्गति की।

परंतु आचार्य शुक्ल कहते है यदि दुष्कर्मी केवल इतना ही देख पाता है, उसका दुःख और ग्लानि-बोध उसको गहराई में ले जा कर उसके कुकर्म और उसकी दुर्गति के मूल कारण का साक्षात्कार उसको नहीं करवाता तो उसकी दृष्टि को अभी ठीक नहीं माना जा सकता, वह दूषित और अधूरी है, उसका विवेक अभी कच्चा और सदोष है।

ग्लानि का यह रूप सार्थक और प्रभावी नहीं होता। ग्लानि का सार्थक रूप 'पश्चात्तापपरक ग्लानि' का होता है जो दुष्कर्मी का मानसिक शोधन कर देता है, उसका हृदय पिघलकर किसी नये शोधित साँचे में ढलने के लिए तैयार हो जाता है।

अतएव, दुष्कर्मी यदि अपनी दुर्गति पर केवल इतना कह कर दुखी होता है कि "हा! मेरी यह गति हुई" तो यह ग्लानि-बोध बहुत सार्थक और प्रभावी नहीं होता : वह दुष्कर्म में प्रवृत्त दुष्कर्मी को कुछ समय के लिए रोक तो सकता है, पुनर्दुर्गति की आशंका या उसका भय उसको कुछ देर के लिए हताश तो कर सकता है, पर उसको दुष्कर्म से पूर्णतः विरत या विमुख नहीं कर सकता, उसको पूर्णतः शोधित नहीं कर सकता।

इसका कारण यह है कि हृदय-परिवर्तन या मानसिक-शोधन अपमान के भय से नहीं होता, वह 'पश्चात्ताप' के अनुभव से होता है। जब तक दुष्कर्मी की ग्लानि उसमें यह नहीं कहलवाती कि--"यदि हमने ऐसा न किया होता तो हमारी यह गति क्यों होती ?" अर्थात् जब तक उसको अपने कुकृत्य पर सच्चा पछतावा नहीं होता तब तक वह बुराई से विरत नहीं होगा, विमुख नहीं होगा।

टिप्पणी

(क) आचार्य शुक्ल की निबंध-शैली के वैशिष्ट्य की अनेक भंगिमाएँ यहाँ द्रष्टव्य हैं। 'आँख खुलना' और 'आँख खोलना' मुहावरे तो हैं ही एक वाक्य में

दो-दो मुहावरो का प्रयोग तथा आनुप्रासिकता का सौंदर्य उत्पन्न करना उनकी शैली की विशिष्ट भंगिमाएँ है ।

(ख) 'मान' और 'हानि' की आवृत्ति, 'हानि' और 'ग्लानि' तथा 'तोड' और 'मोड' की वर्ण मैत्री 'न' की आवृत्ति की आनुप्रासिकता आदि का सौन्दर्य गद्य शैली को काव्य-गुणो से विभूषित करके एक विशिष्ट चारुता एव आकर्षण उत्पन्न करता है ।

(ग) 'दुरुस्ती' और 'कसर' जैसा क्रमशः फारसी और अरबी शब्दावली का सटीक प्रयोग भी शुक्ल जी के निबन्ध शैली की विशेषता है ।

(घ) अपने अभिमत को प्रस्तुत करने मे आचार्य शुक्ल का आत्मविश्वास ध्यान देने योग्य है । यह आत्मविश्वास उनके गहन लोकानुभव और आचार्यत्व को भी व्यजित करता है ।

(च) विषय-विवेचन को नैतिक-स्पर्श और मोड़ देना भी आचार्य शुक्ल खूब जानते हैं ।

लोभ और प्रीति

(12) लक्ष्य की इस एकता से समाज मे एक-दूसरे की आँखो मे खटकने वाले की वृद्धि हुई । जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसन्द करते ? लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए, धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बाते पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वे भी रुपये-पैसे की दृष्टि से होने लगीं । आजकल तो बहुत सी बाते धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई है ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारो पर युग्मक के रूप मे भी विचार करते है । इस क्रम मे वे उनके तारतम्य और अंतर का स्पष्ट निरूपण करते हुए उनके भेदो-प्रभेदो आदि की भी चर्चा करते चलते हैं । इस चर्चा को वे मनोविज्ञान, साहित्य, समाज, व्यक्ति, लोक आदि से जोडकर विवेचन को व्यापक फलक प्रदान करते हैं ।

'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबध में लोभ ओर प्रीति के प्रारभिक विवेचन के बाद आचार्य शुक्ल 'लोभ' की विशेष चर्चा करते हुए कहते हैं कि लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं--सामान्य और विशेष । विशेष वस्तु के प्रति लोभ सामान्यतया निरापद होता है परतु सामान्य वस्तु के प्रति लोभ लोक-जीवन में बडी विषम स्थितियाँ उत्पन्न कर देता है । जहाँ एक ही वस्तु को समाज के सब लोग प्राप्त करना चाहते हैं वहाँ प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष, यहाँ तक कि हृदयहीनता और मूल्यहीनता जैसी स्थितियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं ।

आचार्य शुक्ल बताते हैं कि सभ्यता के विकास की एक विशेष स्थिति में विनिमय सम्बन्धी कठिनाई के निराकरण के लिए जब कुछ धातुओ (सिक्कों) मे सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने का कृत्रिम गुण आरोपित कर दिया गया और वह सब की इच्छा एव चेष्टा का लक्ष्य बन गया तो इसके बडे भयावह परिणाम हुए ।

उल्लिखित निबंध की आलोच्य पंक्तियों में आचार्य शुक्ल इसी प्रसग की चर्चा को अग्रसर करते है । टके में सामर्थ्य का आरोप कर देने से जब पूरा समाज टके के पीछे भागने लगा तो लक्ष्य की एकता अवश्य स्थापित हुई, पर वह समाज के लिए हितकर न होकर घातक सिद्ध हुई । उसके बड़े भयकर परिणाम सामने आए । धनार्जन के सामान्य लक्ष्य ने परस्पर के मानवीय एव आत्मीय सम्बन्ध के सुकुमार समीकरणो को नष्ट कर दिया । ईर्ष्या-द्वेष तो तरह-तरह के और कारणों से समाज मे पहले भी व्याप्त था पर अब इससे ग्रस्त और इसका शिकार लोगों की सख्या बढ़ने लगी । अब जो व्यक्ति किसी प्रकार से समाज में अधिक धन-सम्पत्ति अर्जित कर लेता है वह भी दूसरो के द्वेष भाव का शिकार बन जाता और दूसरा को अप्रिय एवं अवाछित लगने लगता । यह स्वाभाविक भी था क्योंकि सामान्य प्राप्तव्य लिए एक की आकाक्षा और प्रयत्नशीलता दूसरे को बहुत अच्छी नही लगती थी । शीघ्र ही वह दूसरे की समृद्धि के लिए बाधक और क्षतिकारक सिद्ध होने लगती थी । इसलिए एक सीमा एव स्थिति के बाद दूसरे की धनेच्छा को लोग सहन नहीं कर पाते थे, वे उसको नापसद करने लगते थे, वह लोगो को अवाछित लगने लगती थी, इच्छा करने वाले लोग अवांछित लगने लगते थे ।

समाज में पैसे के एकल वर्चस्व ने मानव-मूल्यों, जीवन-मूल्यों और सामाजिक व्यवहार के आधारों को हिला दिया है । आज हार्दिक-बौद्धिक-आत्मिक विभूतियो का कोई मूल्य नही रहा । प्रेम, करुणा, ममता, सहानुभूति, सदाचार, लोक-सेवा आदि का आज के जीवन मे कोई महत्व नहीं । सवेदना, सस्कार, बुद्धि-विवेक, धर्म-सस्कृति सब पर पैसे का काला साया पडता जा रहा है । 'लक्ष्मी की मूर्ति' का अब कोई अर्थ नहीं रह गया हे । धन-धान्य-सम्पदा की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के प्रति आज हमारी पूज्य बुद्धि, भक्ति-भावना, मूर्ति के प्रति शुचिता एवं भव्यता की अनुभूति तिरोहित हो गई । वह अब देवी-मूर्ति न रह कर व्यक्तित्वहीन, चैतन्य शून्य, धातु-खण्ड मात्र बन कर रह गई है जिसको येन-केन-प्रकारण झपट लेने के लिए सारा समाज व्याकुल है । और जब इष्ट देवी की मूर्ति निःसत्व धातुखण्ड बना दी गई हो तो उपासक के उपासना-भाव की क्या उपयोगिता और सार्थकता ? आज उपासक भी भावशून्य, हृदयविहीन, निष्ठुर टका-पूजक बनकर रह गया है । उसको समाज के सुख-दुःख, मंगल-अमगल से कोई सरोकार नहीं, उसका तो एक मात्र लक्ष्य है--धनार्जन, चाहे जैसे सभव हो ।

पैसे के प्रभुत्व और वर्चस्व का, धनार्जन के एकमात्र जीवन-लक्ष्य का विषधर समाज को, सामाजिक मूल्यो और व्यवहार को अधिकाधिक डॅसता गया है । आज पैसा ही प्रेम और धर्म की, हमारे पारस्परिक सम्बन्धों और सामाजिक व्यवहार की एकमात्र कसौटी बन गया है । पहले बहुत से सामाजिक आचार-सस्कार प्रेम अथवा धर्म की दृष्टि से सम्पन्न किए जाते थे, लेकिन आज उनमें केवल पैसा ही देखा जाता है, जैसे--विवाह-संस्कार । यह एक संस्कार है, दाम्पत्य-बधन, मूलतः प्रेम-बधन, प्रगाढ़, पवित्र, स्थायी और सुदीर्घ । इसके सम्पादन में एक धर्म-दृष्टि भी है । लेकिन आज विवाह व्यवसाय है, इसके सपादन में एक-मात्र दृष्टि पैसा है ।

ार मान-मर्यादा, पद-प्रतिष्ठा, कुलीनता-गरिमा जेसी अत्यन्त मूल्यवान और अत्यन्त
धातु के 'ठीकरों' पर ठहरा दी गई हैं: धातु के तुच्छ, हीन चरित्र, निर्जीव
ात कर दी गई हैं । पैसे के वर्चस्व की यह विडम्बना है । विद्या-बुद्धि, सदाचार,
ः जैसी विभूतियाँ अब यश, मान, प्रतिष्ठा की कसौटी नहीं रह गई हैं । अब
नबकी एकमात्र कसौटी है । आज जिसने किसी भी हथकण्डे से धन अजित
वही कुलीन है, वही विद्वान है, वही प्रतिष्ठित और यशस्वी है ।

व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति के लिए ललक और पैसे का वर्चस्व पूँजीवाद का एक दुष्परिणाम है । आचार्य शुक्ल रागात्मक सम्बन्धों के विलोप, मूल्यो के क्षरण, धन एवं व्यावसायिक बुद्धि के वर्चस्व आदि से क्षुब्ध और चिंतित हैं । यह उनकी शैली में प्रतिबिंबित है । यह चिंता उनके सस्कारी व्यक्तित्व की व्यजक है ।

जागरणकालीन अपेक्षाओ के दौर मे सामाजिकता और आत्मीयता का यह क्षरण विशेष चिंता का विषय था । यह शुक्ल जी के इतिहास-बोध की सजगता की व्यंजक है ।

मुहावरों के प्रयोग में आचार्य शुक्ल सिद्धहस्त हैं । लक्ष्मी की मूर्ति का धातुमयी हो जाना, उपासक का पत्थर का हो जाना--यहाँ लक्षणा का आधार लिया गया है और शैली को लाक्षणिक बनाया गया है । आवृत्ति, आनुप्रासिकता, पद-मैत्री आदि इन सभी युक्तियों एव उपकरणो के प्रयोग से गद्य-भाषा को सर्जनात्मक एवं समर्थ बनाया गया है ।

मनोविकार विशेष के विवेचन को सामाजिक-नैतिक संदर्भ प्रदान किया गया है । अतः (ग) में साकेतित शैलीगत वैशिष्ट्य के अतिरिक्त विषय के स्तर पर लेखकीय व्यक्तित्व का सद्भाव-अंतर्भाव द्रष्टव्य है ।

उपासको की हृदयहीनता और उनके पाखण्ड पर, टका-पूजको की काली मानसिकता पर शुक्ल जी व्यग्य भी करते चलते हैं ।

जिनकी आत्मा समस्त भेद-भाव भेदकर अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है
की रक्षा चाहते हैं--जिस स्थिति मे भूमण्डल के समस्त प्राणी, कीट-पतग से
तक सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं । ऐसे लोग विरोध के
उनसे जो विरोध रखें वे सारे संसार के विरोधी हैं, वे लोक के कण्टक हैं ।

शुक्ल मनोविकारो पर युग्मक के रूप में भी विचार करते हैं । इस क्रम में वे
और स्पष्ट अतर का निरूपण करते हुए उनके भेदों-प्रभेदों आदि की भी चर्चा
। इस चर्चा को वे मनोविज्ञान, साहित्य, व्यक्ति, समाज, देश, लोक आदि विषयक
से जोड़कर विवेचन को अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार व्यापक फलक प्रदान

'लोभ और प्रीति' शीर्षक निवन्ध मे आचार्य शुक्ल लोभ के एक ऐसे विशिष्ट रूप का वर्णन करते हैं जिसमें लोभी को केवल यह इच्छा होती है कि वस्तु सुरक्षित रहे । वे इसको 'पवित्र लोभ' कहते हैं । घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत होते रूप हैं । पर कोई-कोई महान् आत्मा लोभी इतना निपट निस्वार्थी और जबर्दस्त परार्थी होता है कि उसकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है । उसके प्रेम की गहराई उलट जाती है, उसका अपने घर और पुर की तुलना में अपने देश से अधिक गहरा प्रेम होता है, देश की रक्षा के लिए वह सब कुछ छोड सकता है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार यह लोभ का सर्वाधिक प्रशस्त और साधु रूप होता है जिसमे घर, पुर या देश के बाहर के लोगों के विरोध की ही आशंका रहती है, अन्यथा यह सर्वथा विरोधरहित और पारस्परिक प्रेम-पोषक होता है ।

प्रस्तुत निबन्ध के आलोच्य अनुच्छेद मे आचार्य शुक्ल एक परम महान लोभी-प्रेमी आत्मा और उसके प्रेम की एक परम आदर्श स्थिति की कल्पना करते हैं । ममत्व-परत्व, अपने-पराए का अनुभव आत्मा की सकीर्णता का व्यंजक है, इस अनुभव की उपस्थिति मे आत्मा का उत्कर्ष संभव नहीं । ममत्व-परत्व, मै-मेरा और तू-तेरा जैसे समस्त भेदों के अनुभव से मुक्त होकर, उनसे ऊपर उठ कर जब आत्मा अत्यत विस्तार एवं अपरिमिति का अनुभव करती है तो वह अत्यंत उत्कर्ष को प्राप्त होती है । आत्म-विस्तार की इस दिव्य मनःस्थिति मे पहुँचा हुआ व्यक्ति केवल अपने घर, अपने पुर या अपने देश की रक्षा की आकांक्षा तक सीमित नहीं रह जाता अपितु उसकी आत्मा समस्त संकीर्ण सम्बन्धों का अतिक्रमण करके मानवता मात्र के विस्तीर्ण क्षेत्र से राग का अनुभव करने लगती है, वह समस्त संसार की रक्षा का आकांक्षी हो जाता है--सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया । बल्कि, आचार्य शुक्ल तो यह कहते हैं कि उसकी कल्याण-कामना मानव जगत से भी आगे बढ़कर समस्त प्राणिजगत तक व्याप्त हो जाती है: वह भूमण्डल के समस्त प्राणियों--मनुष्यों, पशु-पक्षियो, कीट-पतंगो जलचर-थलचर-नभचर सब के सुख, सब के मंगल और सब की सुरक्षा का आकांक्षी हो जाता है । ऐसे दिव्यात्मा की ऐसी परम पुनीत, परम सात्त्विक कामना का विरोध कौन करेगा ? ऐसी महत् विभूतियाँ सभी के लिए स्वागत योग्य, समर्थनीय एव अनुकरणीय होती हैं--उनका कोई विरोधी नहीं होता । यदि कुछ ऐसे अविवेकी और खल व्यक्ति हैं जो उनका भी विरोध करते हैं, उनके परम सात्विक, परम पुनीत आचरण और व्यवहार का सक्रिय समर्थन न करके उसमें बाधा डालते हैं तो आचार्य शुक्ल के अनुसार ऐसे लोग केवल उन महत् विभूतियों के नहीं अपितु सारे ससार के विरोधी है, सारे ससार की सुख-शाति-सुरक्षा के विरोधी हैं, वे ऐसे कॉटे हैं जो अपने दंश से लोक की मंगलोन्मुखी गति को अवरुद्ध कर देते हैं । वे लोक के शत्रु हैं ।

टिप्पणी

(क) 'लोकमगल' आचार्य शुक्ल के समस्त चिंतन का केन्द्रीय मूल्य है । मनोविकारो के विवेचन को वे समाज और लोक का संदर्भ देकर निबन्ध में लेखकीय व्यक्तित्व का अतर्भाव करते हैं दूसरी ओर सारे विवेचन को लोकमगल की

ओर मोड़कर वे अपने परम प्रिय केन्द्रीय मूल्य में अपनी आस्था की पुष्टि करते हैं ।

(ख) आचार्य शुक्ल की नैतिकता और मूल्य-दृष्टि लोगों के आचरण और व्यवहार का, लोगों का, बड़ा निर्भीक और निर्णायक मूल्यांकन भी करती चलती है । सद्-असद् का स्पष्ट विवेक उनके चिंतन का एक महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है ।

(14) प्रेम का दूसरा रूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है । प्रेमी जगत के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है । प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौन्दर्य प्रदर्शित करता है । वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौन्दर्य-जगत के बीच दिखाना चाहता है । यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौन्दर्य-विधान की प्रेरणा करने वाली एक दिव्य शक्ति के रूप में ।

आचार्य शुक्ल मनोविकारों पर युग्मक के रूप में भी विचार करते हैं । इस क्रम में वे उनके तारतम्य और स्पष्ट अंतर का निरूपण करते हुए उनके भेदों-प्रभेदों आदि की भी चर्चा करते चलते हैं । विस्तृत चर्चा में वे मनोविकार विशेष के विविध रूपों और उसकी विविध भंगिमाओं का भी वर्णन करते हैं । इस चर्चा को मनोविज्ञान, साहित्य, व्यक्ति, लोक, कर्म आदि विषयक विविध संदर्भों से जोड़कर विवेचन को अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार व्यापकता प्रदान करते हैं ।

'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध में आचार्य शुक्ल प्रेम के दो रूपों की चर्चा करते हैं । ये हैं--(1) ऐकान्तिक अथवा अंतर्मुख प्रेम, और (2) लोकबद्ध प्रेम । ऐकान्तिक प्रेम प्रेमी को लोक के अन्य सभी कर्मक्षेत्रों से विरत करके केवल प्रेमी-प्रेमिकारूपी दो प्राणियों की छोटी-सी दुनिया में अनुरक्त और बन्द कर देता है । यह प्रिय पक्ष के प्रबल राग में जीवन के शेष सभी पक्षों से पूर्ण विराग की स्थिति है । भक्ति मार्ग में, गोपी-कृष्ण प्रेम में, यह रूप उपलब्ध होता है ।

प्रेम का दूसरा रूप बहुत व्यापक होता है । वह लोकजीवन के नाना कर्मक्षेत्रों से सम्बद्ध और उनमें व्याप्त रहता है ।

उल्लिखित निबन्ध के आलोच्य अनुच्छेद में आचार्य शुक्ल प्रेम के इसी रूप का लालित्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं । आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रेम एक दिव्य वस्तु है । वास्तव में वे उसकी दिव्यता-भव्यता से अभिभूत हैं । प्रेम की शक्ति दिव्य है, उसका प्रभाव दिव्य है वह सौंदर्य, आनंद, उत्साह और प्रफुल्लता का स्रोत है, वह संजीवन रस है । आचार्य शुक्ल के अनुसार मानव-जीवन एक यात्रा है, जो नाना पथों से गुजरते हुए संपन्न की जाती है । सुख-दुःख, आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, भीषण-सरस, कोमल-कठोर, अँधेरे-उजाले आदि से युक्त तरह-तरह के रास्तों पर चल कर मनुष्य की वह यात्रा संपन्न होती है । लेकिन जब प्रेम लोकजीवन के नाना कर्मक्षेत्रों से सम्बद्ध हो जाता है तो जीवन माधुर्य और आनंद से भर उठता है प्रेम का प्रकाश यात्रा पथ के अँधेरे को विदीर्ण कर देता है उसके दिव्य आलोक

से प्रेमी का जीवन-पथ जगमगा उठता है, जीवन-यात्रा सुगम, मधुर और रजक बन जाती है। प्रेम का प्रकाश जीवन मे कर्म और कर्त्तव्य के मार्ग को प्रशस्त कर देता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव में प्रेमी जब कर्मक्षेत्र मे उतरता है तो अपने कर्त्तव्य के दायित्वपूर्ण निर्वाह पर स्वय रीझ जाता है, उसको कर्म-सौंदर्य से जगमगाती हुई अपना जीवन, अपना अस्तित्व स्वय ही मोहक और रमणीय प्रतीत होने लगता है। उसकी मोहकता के अनुभव से विभोर होकर वह उसके सौंदर्य का आस्वादन अपने प्रिय-पात्र को भी कराना चाहता है, ताकि वह भी आनदविभोर हो उठे और उस पर रीझ कर उसको उसके प्रेम का गहरा प्रतिदान दे सके।

निश्चय ही प्रेम का प्रभाव दिव्य है। उसके लोकोत्तर प्रभाव से प्रेमी की आत्मा की संकीर्णता, उसके समस्त कल्मष एवं असौंदर्य का निवारण हो जाता है जिससे उसकी दृष्टि में विमलता की ज्योति और चेतना में पुलक का सद्भाव हो जाता है। ऐसे मे उसके आसपास चारों ओर सौन्दर्य का दिव्य आलोक फैल जाता है। वह पूरे उत्साह और उमंग-भाव मे, हँसी-खुशी के साथ, निस्वार्थ भाव मे परार्थ मे, लोकसंग्रह मे, अपने कर्त्तव्य-पालन मे प्रवृत्त होकर अपना कर्म-सौंदर्य प्रदर्शित करता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसका पूरा जीवन बाहर-भीतर दोनों ओर से सुन्दर हो जाता है, उसका व्यक्तित्व मन 'बुद्धि' आत्मा और शरीर के गुणों से विभूषित हो जाता है। पर वह अपना यह जीवन-सौंदर्य अपने प्रेम-पात्र को एकान्त में, प्रेमी-प्रेमिका की छोटी-सी बंद दुनिया में दिखाकर आकर्षित और प्रभावित नहीं करना चाहता। वह उसको लोकजीवन में कर्म-क्षेत्र के बीच प्रदर्शित करके अपने प्रेम-पात्र को लुभाना चाहता है। वह अपने उदात्त विचार, सात्विक आचरण और लोकमंगलपरक कार्यों से अपने प्रेम-पात्र को तुष्ट और मुग्ध करना चाहता है। वह अपने साहस, शौर्य और पराक्रम, अपनी धीरता-वीरता, दृढ़ता-कष्टसहिष्णुता, प्रीति और करुणा आदि अपने अंतर्बाह्य के गुणो को अपने प्रेम-पात्र के समक्ष लोकजीवन के बीच प्रदर्शित करना चाहता है, क्योकि वहीं इनका सौंदर्य पूर्णतः व्यक्त हो सकता है और तभी उसको प्रेम-पात्र से अपने प्रेम का पूर्ण प्रतिदान भी मिल सकता है।

आचार्य शुक्ल का मत है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति मे विकसित प्रेम मनुष्य के स्वभाव और चरित्र का स्थायी तत्व बन कर एक दिव्य शक्ति का रूप धारण करता है। इस शक्ति का विलक्षण मगलकारी प्रभाव होता है। प्रेम की दिव्य शक्ति की रेखा से प्रेमी अपने आचरण एवं व्यवहार से, कर्म एव चरित्र से सारे ससार को सुख-सौंदर्य से आपूरित कर देता है, अपने प्रेम-पात्र को अपने औदात्य एवं माधुर्य से भर देता है तथा लोक में मंगल का विधान करता हुआ समस्त सृष्टि में सौंदर्य की आभा फैला देता है।

अतएव, प्रेम निश्चय ही धन्य है। उसका यह लोकव्यापी रूप निश्चय ही दिव्य, परमोज्ज्वल एवं सर्वमगलकारी है। इस प्रेम-सौंदर्य के क्षेत्र की व्यापकता में कर्म-सौंदर्य, वाक्-सौन्दर्य, भाव-सौंदर्य सबक अन्तर्भाव हो जाता है।

टिप्पणी

(क) यह अनुच्छेद निगमन शैली का अच्छा उदाहरण है।

(ख) प्रेम के प्रस्तुत विवेचन के संदर्भ में आचार्य शुक्ल भारतीय साहित्य, भारतीय भक्ति मार्ग और फारसी साहित्य का हवाला देते है

(15) तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता मे कोई त्रुटि नही आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पडता है वहाँ तक तो उसका उत्कर्ष प्रकट नही होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पडता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयो की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भाव-भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नही चाहता है, केवल यह चाहता है--प्रिय से नहीं, ईश्वर से--कि हमारा प्रिय बना रहे और हमे ऐसा ही प्रिय रहे।

आचार्य शुक्ल मनोविकारों पर युग्मक के रूप में भी विचार करते हैं। इस क्रम मे वे उनके तारतम्य और स्पष्ट अतर का निरूपण करते हुए उनके भेदो-प्रभेदो तथा विशिष्ट सदर्भों में उपस्थित उनकी विशिष्ट स्थितियो की भी चर्चा करते हैं। इस चर्चा को वे मनोविज्ञान, साहित्य, व्यक्ति, समाज आदि से जोडकर विवेचन को अपनी-अपनी रुचि एव प्रवृत्ति के अनुसार व्यापक फलक प्रदान करते है।

'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध के अतर्गत प्रेम के विस्तृत विवेचन के सदर्भ मे आचार्य शुक्ल प्रेमी-प्रेमिका पक्षो के पारस्परिक सम्बन्ध के तहत उत्पन्न प्रेम की कतिपय विशिष्ट स्थितियों की चर्चा करते हैं।

उदाहरण के लिए, उनका कहना है कि प्रेम कहीं तो दोनो पक्षो मे एक साथ उत्पन्न होता है, कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है। और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है, दूसरे मे उत्पन्न होता ही नहीं। ये क्रमशः प्रेम की सम और विषम स्थितियाँ कही जायँगी। इस प्रसग मे आचार्य शुक्ल रसाभास और तुल्यानुराग की काव्यशास्त्रीय स्थितियो की भी चर्चा करते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध की आलोच्य पंक्तियों मे आचार्य शुक्ल विषम प्रेम की एक ऐसी अतिविशिष्ट स्थिति का निर्वचन करते हैं जिसके अतर्गत प्रेम अत्यन्त उच्च भाव-भूमि पर अवस्थित होता है तथा विशुद्ध एवं निर्मल होता है। इसमे प्रेमी अपने प्रिय से किसी प्रकार की अपेक्षा या प्रत्याशा नहीं करता।

इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल प्रश्न उठाते है कि क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं होता जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है पर प्रिय उसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है?

इसका सुचिंतित उत्तर प्रस्तुत करते हुए वे कहते है कि यह प्रेम विषयक कोई नकारात्मक, सदोष या अपूर्ण स्थिति नहीं होती, क्योंकि इसमे प्रेमी अपनी ओर से प्रिय को अपना पूरा प्रेम दान देता है, वह पूर्णतः अनन्य भाव और समर्पणमयी निष्ठा के साथ प्रिय से प्रेम करता है। लेकिन यदि प्रिय बदले में उसे प्रेम का प्रतिदान नहीं देता, उसकी आत्मा को अपने प्रति प्रेम से परितुष्ट और परितृप्त नहीं करता तो इसमे उसके प्रेम की महत्ता और गरिमा में कोई सदोषता या न्यूनता उत्पन्न नहीं हो जाती। आचार्य शुक्ल के अनुसार इस स्थिति

के लिए न तो प्रेमी को दोषी ठहराया जा सकता है न उसके प्रेम को अपूर्ण । सामान्यतया प्रेम की 'सम' स्थिति में और तुल्यानुराग मे भी दोनो पक्ष समान रूप से प्रेम का अनुभव करते हैं और प्रेमी-प्रेमिका दोनो अपने-अपने प्रेमदान मे एक-दूसरे को परितुष्ट करते हैं । परंतु यदि प्रेम की किसी स्थिति विशेष मे दोनो पक्षो की पारस्परिक तुष्टि की व्यवस्था पूरी न हो पाए, उसका विधान न हो पाए, तो इस स्थिति मे प्रेम विद्रूप या त्रुटिपूर्ण नहीं हो जायगा । हाँ, यह अवश्य है कि इस स्थिति मे कुछ दूर तक प्रेम उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हो पाता । उदाहरण के लिए, प्रेम-व्यापार के दौरान यदि प्रेमी प्रिय से अपने प्रेम के प्रतिदानपरक परितोष की बराबर इच्छा करता रहे उसको बराबर ऐसा लगता रहे कि जब तक प्रिय भी बदले में उसके प्रति अपने प्रेम का इजहार नहीं करेगा तब तक उसकी आत्मा को तुष्टि नहीं मिलेगी आर इसलिए वह प्रिय के प्रतिदान की बराबर अपेक्षा करता रहे तो यह प्रेम उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होगा । अथवा, यदि प्रेमी अपने प्रेमदान के बदले मे प्रिय से प्रेम न मिलने पर अतृप्ति और अतुष्टि के कारण क्षोभ का अनुभव करता रहता है तो भी इस प्रेम को उत्कर्ष प्राप्त नहीं होगा । तात्पर्य यह है कि जब तक प्रेम किसी भी प्रकार की स्वार्थ-भावना या परितृप्ति कामना से सम्पृक्त रहेगा तब तक उसको शुद्ध, निर्मल और उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता । स्वार्थ-चेतना से कलुषित होने के कारण वह अपने उदात्त, उज्ज्वल रूप में प्रकट हो ही नहीं सकता । उसका उत्कर्ष वासना, कामना और हेतु से सर्वथा मुक्त होने पर ही सभव होता है ।

आचार्य शुक्ल प्रेम की एक ऐसी परमोज्ज्वल स्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें प्रेमी अपने प्रेम-पात्र को केवल देता ही देता है, जिसमे केवल दान ही दान है, प्रिय से अपने लिए किसी प्रकार के प्रतिदान या आत्मतोष की अपेक्षा या प्रत्याशा नहीं । प्रेमी का प्रिय के प्रति प्रेम पर तो क्रमशः इतना अनन्य और समर्पणमय होता जाता है कि वह प्रिय से किसी भी प्रतिदान या आत्म-तुष्टि की कामना से अपने को मुक्त और विरत कर लेता है, वह उससे बदले में कुछ प्राप्त करने की इच्छा बिल्कुल छोड देता है, या फिर उसका प्रेम शुरू से ही इतना अहेतुक, इतना उज्ज्वल, निर्मल ओर विशुद्ध होता है कि प्रिय से बदले में कुछ प्राप्त करने की इच्छा उसमें उत्पन्न ही नहीं हुई रहती । यहाँ प्रेमी वास्तव मे अपने प्रिय से कुछ चाहता ही नहीं--प्रिय के प्रति उसका प्रेमदान सर्वथा निस्वार्थ, सर्वथा अहेतुक होता है । वह केवल यही चाहता है, वह भी ईश्वर से, उससे नहीं, वह ईश्वर से मनाता है कि उसका प्रिय जहाँ रहे, सुरक्षित रहे और उसे वैसा ही प्रिय भी रहे ।

यह प्रेम की उज्ज्वलता की पराकाष्ठा है, प्रेम-भाव का चरमोत्कर्ष है । आचार्य शुक्ल इसकी भव्यता से अभिभूत हैं । उनके अनुसार यह प्रेम चिरस्थायी और अविचल होता है । इसमे प्रिय के प्रति प्रेमी के दृढ़ प्रेम-भाव को कोई डिगा नहीं सकता, किसी प्रकार का प्रलोभन या दबाव उसकी निष्ठा और अनन्यता को विचलित नहीं कर सकता । यह प्रेम अत्यन्त परिपक्व, दृढ़, स्वच्छ-निर्मल, सर्वथा अहेतुक तथा परम विशुद्ध और पवित्र होता है । यह प्रेम भाव की जिस परमोज्ज्वल, उदात्त, सात्विक एवं उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित होता है उस तक सामान्य प्रेमी की पहुँच नहीं हो सकती । कोई बिरला अनन्य समर्पणमय उज्ज्वल हृदय प्रेमी ही उस भूमि तक पहुँच सकता है ।

आचार्य शुक्ल सूर की गोपियो के प्रेम को इसी कोटि का मानते हैं । वे अपने प्रेम-पात्र कृष्ण को यह 'असीस' देती हैं और उनके लिए यही मनाती है कि--"न्हात खसै जनि बार ।"

आचार्य शुक्ल के अनुसार वास्तव में ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता ।

टिप्पणी

(क) भाव-स्तरीय प्रेम-प्रसंग की स्थिति विशेष को अत्यन्त उच्च बौद्धिक धरातल पर 'फिलॉसफाइज' करके उसे अत्यन्त सुविचारित शब्दावली मे प्रस्तुत करना आचार्य शुक्ल जैसे परम प्रतिभाशाली विद्वान निबंधकार ही कर सकते हैं । इस अनुच्छेद के वाक्य आचार्य शुक्ल की शैलीकार की प्रतिभा को भी व्यजित करते हैं ।

(ख) यहाँ मनोविकार प्रेम को काव्य और काव्यशास्त्रीय संदर्भ मे विवेचित किया गया है । ठीक इन पक्तियो मे तो नहीं पर इनके ठीक पहले की पक्तियो मे शुक्ल जी 'तुल्यानुराग', 'रस', 'रसाभास' जैसी विशुद्ध काव्य-शास्त्रीय पारिभाषिक पदावली का उल्लेख करते हुए उनकी चर्चा कर ही रहे है । काव्य का हवाला भी वे इनके पहले और ठीक बाद की पंक्तियों मे देते हैं । सूर की गोपियो का उल्लेख तो किया ही गया है, शुक्ल जी ने बंकिम बाबू के बँगला उपन्यास दुर्गेशनंदिनी की आयशा के उज्ज्वल प्रेम की भी चर्चा की है ।

(ग) यह सब आचार्य शुक्ल का अपना मौलिक चितन है, जिसकी पुष्टि के लिए साहित्यिक संदर्भ जुटाए गए हैं ।

घृणा

(16) इस प्रकार के भेद का कारण मनुष्य के अनुबन्ध-ज्ञान की उलटी गति है । अनुबन्ध ज्ञान का क्रम या तो प्रस्तुत विषय पर से उसे संगठित करने वाले कारणों की ओर चलता है या परिणामों की ओर । किसी प्रस्तुत विषय को पाकर हर एक आदमी अनुबन्ध द्वारा उससे वास्तविक सम्बन्ध रखने वाले अंत:समान विषयों तक नहीं पहुँच सकता । एक बात को देख कर हर एक आदमी उसका एक ही समान कारण या परिणाम नहीं बतलाएगा ।

आचार्य शुक्ल मनोविकार विशेष के विवेचन के अतर्गत उसके भेदों-प्रभेदों की चर्चा के अतिरिक्त उसके हेतु और परिणाम, विषय और वैशिष्ट्य आदि का भी विवेचन प्रस्तुत करते हैं । इस प्रसंग को वे मनोविज्ञान, साहित्य, व्यक्ति, समाज, नैतिकता आदि विषयक सदर्भों मे जोडकर व्यापक फलक प्रदान करते हैं ।

'घृणा' शीर्षक निबन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन है कि घृणा के विषय दो प्रकार के होते हैं--स्थूल और मानसिक । घृणा के स्थूल विषय प्राय: सभी मनुष्यों को समान रूप से प्रभावित करते हैं । इसी प्रकार मानसिक विषय भी प्राय: सभी के लिए समान और निर्दिष्ट होते हैं जैसे--स्वार्थपरता कायरता पाखंड आदि से सभी को समान रूप से घृणा होती है ।

परन्तु आचार्य शुक्ल के अनुसार कुछ स्थितियो में घृणा के विषय को लेकर मतभेद भी पाया जाता है । ऐसा वहाँ होता है जहाँ घृणा के निर्दिष्ट से भिन्न विषयों के उपस्थित होने पर लोग अनुबंध द्वारा घृणा के मूल विषयो तक पहुँचते है । उदाहरणस्वरूप आचार्य शुक्ल भरत के वन-गमन प्रसंग का हवाला देते हुए बताते है कि दल-बलसहित भरत को वन मे आते देख निषाद को उनके प्रति घृणा उत्पन्न हो रही हैं, पर राम को नहीं । क्योंकि निषाद भरत के आगमन में असहाय राम को मार करके निष्कंटक राज्य करने की उद्भावना करता है, और राम नहीं । इस भेद का कारण अनुबंध-भेद है ।

'घृणा' शीर्षक निबंध के आलोच्य अनुच्छेद मे इसी प्रसंग को अग्रसर किया गया है ।

इस प्रकार के प्रसगों मे 'अनुबंध' की भूमिका निर्णायक और महत्वपूर्ण होती है । अनुबंध वास्तव मे दो प्रसगो को जोड़ने या बाँधने वाले तत्व हैं जिनको सह-सम्बन्धी (कोरिलेटिव) भी कह सकते हैं । अनुबंध सन्दर्भ, परिस्थिति, प्रसंग और गौण मनोविकार के अतिरिक्त परिणाम, फल उद्देश्य का भी बोधक होता है ।

इसका क्या कारण है ? निश्चय ही इस भेद का कारण अनुबंध ज्ञान है । इस बारे में एक विलक्षण बात यह है कि अनुबध ज्ञान की गति उलटी होती है । यह सही है कि विषय के निर्दिष्ट न रहने पर व्यक्ति उसके योजक तत्वो, सह-संबंधियो, सदर्भ, गौण मनोविकारो आदि के सहारे घृणा के प्रतिष्ठित विषयों तक पहुँचते हैं । पर एक मनुष्य किसी घटना या 'कार्य' को जिस कारण या परिणाम से जोडता है, दूसरा वैसा नहीं करता । उससे उलटा ही सोचता है । इसी से भेद हो जाता है । इसका कारण स्वभाव की विशेषता होती है । स्वभाव के मूल में भी तत्वतः दो ही प्रकार की वृत्तियाँ होती है । किसी में सद्वृत्ति प्रकृतिस्थ होती है, किसी में असद्वृत्ति । यही कारण है कि चिंतन की प्रक्रिया में भिन्नता हो जाती है । कोई किसी के कार्य-कलाप (तिलक-चंदन, माला-मुद्रा) को देखकर उसे साधु समझता है और कोई धूर्त ।'' --*(आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)*

इस प्रकार की स्थितियों मे वास्तव मे गौण मनोवेग सक्रिय हो जाते हैं और बडी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । लेकिन कौन-सा गौण मनोविकार सक्रिय होगा, इसके पीछे व्यक्ति के संस्कार की भूमिका रहती है । उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति किसी घटना या कार्य को किस कारण या परिणाम से जोड़ेगा इसके पीछे उसका भाव काम करेगा, वह उस कार्य को ईर्ष्या, द्वेष, वैर, अभिमान, करुणा आदि किस भाव के तहत रखेगा--यही निर्णायक होगा । पर इस मनोभाव का निर्णय उसका संस्कार करेगा । यही कारण है कि समान विषय होने पर भी उसके प्रति प्रतिक्रिया बहुत भिन्न होती है । और चूँकि मानव-स्वभाव मूलतः दो ही प्रकार का होता है, एक-दूसरे के विपरीत या तो व्यक्ति सद्वृत्ति होगा या असद्वृत्ति, इसीलिए अनुबंध-ज्ञान की गति भी परस्पर विपरीत हो जाती है । एक व्यक्ति के लिए जो कार्य घृणोत्पादक है वह दूसरे के लिए वैसा नहीं होता । एक व्यक्ति जिस घटना को किसी एक विशेष कारण या परिणाम से जोड़ता है, दूसरा उसको उससे जोडकर नहीं देख पाता । विषयो के बारे में मतभेद होने का यही कारण है ।

टिप्पणी

(क) आचार्य शुक्ल शुद्ध शास्त्रीय सदर्भ मे मनोविकार विशेष की एक अतिविशिष्ट स्थिति की कल्पना करके उसका विवेचन प्रस्तुत करते हैं । परंतु अपने प्रतिपाद्य के पोषण एव स्पष्टीकरण के लिए वे साहित्य का सहारा लेते हैं । साहित्यिक प्रसंग उनके शुष्क विचार प्रधान-विषय प्रधान निबधों में सरसता का संचार करते है ।

(ख) आचार्य शुक्ल के अनुसार श्रेष्ठ निबधों में विचार प्रत्येक पैरा में ठूस-ठूस कर भरे गए होते हैं । प्रस्तुत अनुच्छेद इस प्रकार की वैचारिक सघनता का श्रेष्ठ उदाहरण है ।

(ग) वैचारिक सघनता और गंभीरता के अनुरूप सटीक तत्सम शब्दावली, शैली की प्रोढता और विवेचन का अनुशासन भी दृष्टव्य है ।

ईर्ष्या

(17) स्पर्द्धा मे किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति-विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दु:ख होता है, फिर प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है या यदि इच्छा पहले से होती है तो उस इच्छा को उत्तेजना मिलती है । इस प्रकार की वेगपूर्ण इच्छा या इच्छा की उत्तेजना अन्त:करण की उन प्रेरणाओ में से है जो मनुष्य को अपने उन्नतिसाधन में तत्पर करती है । इसे कोई संसार को सच्चा समझने वाला बुरा नही कह सकता ।

आचार्य शुक्ल मनोविकार विशेष का विवेचन करने के क्रम में उससे तुलनीय अथवा उसके विलोम मनोविकारो पर भी विचार करते हैं । वे द्वन्द्वात्मक रीति से उन पर विचार करते हुए उनके वैशिष्ट्य, तारतम्य और साम्य-वैषम्य का बहुत तर्कसगत एव सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

'ईर्ष्या' शीर्षक निबन्ध मे ईर्ष्या की संक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा के बाद वे तुलनीय मनोविकार स्पर्द्धा पर विचार करते हैं और बडे विस्तार से इन दोनो का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार ईर्ष्या एक अप्रेष्य, दु:खात्मक और संकुल भाव है । जिसमे दूसरे के सुख को देखकर दु:ख होता है और जिसकी निष्पत्ति आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से होती है । एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नहीं, तो दूसरा पहले से ईर्ष्या-भाव का अनुभव करते हुए इस बात के लिए तीन प्रकार से दुखी हो सकता है, वह वस्तु हमारे पास भी होती, वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती और यह कि वस्तु उसके हाथ से किसी प्रकार निकल जाती, चाहे जहाँ जाती ।

दु:ख की इन स्थितियों मे स्पष्ट है कि ईर्ष्या वस्तून्मुखी नहीं होती, व्यक्ति के प्रति उन्मुख होती है. उसका लक्ष्य वस्तु नहीं होती, ईर्ष्यालु व्यक्ति अप्राप्त या अलब्ध वस्तु की

प्राप्ति के लिए प्रयत्न या इच्छा नहीं करता बल्कि उसका लक्ष्य व्यक्ति होता है । यह ईर्ष्या पात्र को हानि पहुँचाने या उसको लाभ से वंचित करने की ओर प्रवृत्त रहती है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक प्रकार का विष है जो व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए घातक है ।

ईर्ष्या के विपरीत स्पर्द्धा एक प्रकार का ठोस, सद्‌भावपरक और रचनात्मक विकार है । यदि एक के पास कोई वस्तु है और दूसरे के पास नहीं तो यहाँ पहला यह सोचता है कि क्या कहें, हमारे पास भी वस्तु होती । लेकिन वह इतना सोचकर ही नहीं रह जाता बल्कि उसमें अप्राप्त और अलब्ध वस्तु की प्राप्ति या उसके लाभ के लिए बड़ी प्रबल और तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है जो अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति और समाज के लिए मंगलकारी होती है । इसलिए ईर्ष्या की तुलना मे स्पर्द्धा की भावना समाज के लिए वाछनीय एवं महत्वपूर्ण हैं ।

उल्लिखित निबन्ध की आलोच्य पंक्तियो में आचार्य शुक्ल स्पर्द्धा के स्वरूप का विश्लेषण-विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्पर्द्धा में भी पहले दुःखात्मक संवेदन ही उत्पन्न होता है पर बाद में इस विकार के अनुभव मे परिवर्तन हो जाता है । जब एक व्यक्ति किसी दूसरे को सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से संपन्न देखता है और अपने पास उनका अभाव पाता है तो इस अभाव के लिए वह स्वय को दोषी मानता हुआ, अपनी गलती मानता हुआ दुखी होता है । दूसरे की संपन्नता पर उसकी पहली प्रतिक्रिया यही होती है । लेकिन उसके तुरन्त बाद ही उसमे उन वस्तुओं को अर्जित अथवा प्राप्त करने की बडी तीव्र-प्रखर इच्छा उत्पन्न हो जाती है ।

यहाँ आचार्य शुक्ल एक स्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें किसी महत्वाकांक्षी व्यक्ति में सुखादि प्राप्त करने की इच्छा पहले से ही उत्पन्न हुई रहती है । ऐसा व्यक्ति जब किसी सुखादिसम्पन्न व्यक्ति को देखता है तो उसमें भी स्पर्द्धा की भावना उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप उसकी पूर्वोत्पन्न इच्छा सुखादि-प्राप्ति के लिए अब तीव्र एवं उत्तेजित हो उठती है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार इस प्रकार की इच्छा का उत्पन्न होना अथवा उत्पन्न इच्छा का उत्तेजना प्राप्त करना--ये दोनों ही व्यक्ति के अंत.करण की परम मंगलकारी वृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति की उन्नति के लिए साधनास्वरूप होती हैं, व्यक्ति की प्रेरक रचनात्मिका शक्ति बन कर उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती हैं ।

अतएव, संसार को सच्चा समझने वाला व्यक्ति स्पर्द्धा-वृत्ति को बुरा नहीं कह सकता ।

आचार्य शुक्ल का यह कथन बडा महत्वपूर्ण है, क्योकि यह उनके सजग इतिहास-बोध और युग-बोध का परिचायक है । बात यह है कि प्रस्तुत निबन्ध के लेखन-काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक भी भारत का आस्थाशील रूढ़िवादी समाज इस जगत् को मिथ्या और क्षण भंगुर ही मानता चला आ रहा था । उसके लिए इस मिथ्या लोक की चिता और साधना निरर्थक और गर्हित थी, परलोक साधन ही श्रेय था । उसके विपरीत,

आचार्य शुक्ल की प्रगतिशील आधुनिक दृष्टि इस लोक के प्रति, भौतिक जगत के प्रति दृढ़तापूर्वक आस्थावान और निष्ठाशील है । वस्तुतः आधुनिक दृष्टि इहलौकिक ही होती है । आज आधुनिकता और इहलौकिकता ही काम्य एवं स्पृहणीय है । खेद है कि इस जगत् के प्रति आस्था रखने वालों की संख्या अभी बहुत कम है । लेकिन जो भी इस संसार को सच्चा मानता है, मनुष्य की सांसारिक, इहलौकिक उन्नति और प्रगति को महत्वपूर्ण मानता है वह स्पर्द्धा-वृत्ति को बुरा नहीं कहेगा अपितु इसको काम्य एवं स्पृहणीय ही मानेगा ।

स्पर्द्धा अवगुणों या दुर्गुणों से नहीं होती, दूसरे के गुणों और सुकर्मों से होती है । आचार्य शुक्ल के अनुसार सद्गुणी तथा सुख-ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रत्यक्ष, आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण उपस्थिति मात्र से स्पर्द्धावान के लिए उत्प्रेरक आलोक स्तम्भ, अनुकरणीय आदर्श तथा परम विश्वसनीय सम्बल बन जाता है । उसकी उपलब्धियाँ और उसके सद्गुण स्पर्द्धावान में आशा और उत्साह का संचार कर उसको अपनी त्रुटियो के मार्जन, कमियों के निराकरण तथा समृद्धि-संपादन के लिए प्रेरित करते हैं । ईर्ष्या विष है, पर स्पर्द्धा अमृत तो नहीं है, पर त्रुटियो के मार्जन आदि का साधन होने के कारण वह विष की निवारक अवश्य है, अतः वह व्यक्ति और समाज के लिए स्वास्थ्यवर्द्धक एव स्पृहणीय है ।

टिप्पणी

(क) आचार्य शुक्ल का यह चिंतन उनके सूक्ष्म-गहन स्वानुभव पर आधारित है ।

(ख) आचार्य शुक्ल के अनुसार स्पर्द्धा आत्मोन्मुखी होती है, ईर्ष्या परोन्मुखी । स्पर्द्धा मे अपनी त्रुटि या कमी पर दुःख होता है, और अपने मे ही परिवर्तन की इच्छा होती है, दूसरे की संपन्नता पर इसमें दुःख नहीं होता ।

(18) *जिस समय संसर्ग-सूत्र में बाँधकर हम औरों को अपने साथ एक पंक्ति में खड़ा करते है उस समय सहानुभूति, सहायता आदि की संभावना प्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ ईर्ष्या और द्वेष के संभावना की नीव भी पड़ जाती है । अपने किसी विधान से हम भलाई ही भलाई की संभावना का सूत्रपात करें और इस प्रकार भविष्य के अनिश्चय मे बाधा डाले, यह कभी हो ही नही सकता । भविष्य की अनिश्चयात्मकता अटल और अजेय है । अपनी लाख विद्या-बुद्धि से भी हम उसे बिल्कुल हटा नहीं सकते ।*

आचार्य शुक्ल मनोविकार विशेष का विवेचन करने के क्रम में उसके भेदों-प्रभेदों के अतिरिक्त उससे तुलनीय अथवा उसके विषम मनोविकारो पर भी विचार करते है । वे द्वन्द्वात्मक रीति से उन पर विचार करते हुए उनके वैशिष्ट्य, तारतम्य और साम्य-वैषम्य का भी तर्कसगत और सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

प्रस्तुत निबंध को ही लीजिए । इसका शीर्षक है--'ईर्ष्या' । मूल विवेच्य 'ईर्ष्या' नामक मनोविकार विशेष । पर आचार्य शुक्ल यहाँ स्पर्द्धा, द्वेष, वैर, अभिमान, मद आदि की भी बड़ी सारगर्भित चर्चा प्रस्तुत करते हैं । उनका यह सब विवेचन भी पूर्ववत् सामाजिक संदर्भ में ही संपन्न होता है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार ईर्ष्या का उदय इन तीन के प्रति हो सकता है--

(क) जिन लोगो को समाज हमसे मिलाकर या हमारे साथ रखकर देखता है, या देख सकता है,

(ख) जो देश-काल से हमारे समीप के हैं, दूर के नहीं,

(ग) जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हमारे सम्बन्धी-साथी आदि हैं । हर किसी के प्रति हमको ईर्ष्या नहीं होगी ।

इसके अतिरिक्त, ईर्ष्या-सपादन के लिए इन तीनो तत्वो या इकाइयों का होना अनिवार्य है, इनमे से किसी भी एक या दो के अभाव में ईर्ष्या-भाव की निष्पत्ति नहीं होगी--

(क) ईर्ष्या-पात्र
(ख) ईर्ष्या करने वाला
(ग) प्रेक्षक समाज

'ईर्ष्या' शीर्षक निबध की आलोच्य पक्तियो मे आचार्य शुक्ल का कथन है कि सामाजिक जीवन में मनुष्य-मनुष्य के बीच बनने वाले नाना प्रकार के सम्बन्धों का स्वरूप बहुत जटिल और अनिश्चित होता है; क्योंकि उनसे नाना-प्रकार की शुभाशुभ संभावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं । आत्मविस्तार सभ्यता का मूल लक्षण है । आत्मविस्तार की आकांक्षा से जब हम अपने रागात्मक सम्बन्धों का दायरा बढाते है, आत्मीयता के क्षेत्र का विस्तार करते हैं, मित्रो व साथियों, सम्बन्धियों की संख्या बढ़ाकर, उनको अपने प्रगाढ़ सम्बन्ध-सूत्र मे बाँधकर अपने से अभिन्न मानते हैं तो हमारा प्रत्यक्ष प्रयोजन पारस्परिक मैत्री और कल्याण का ही होता है । हम परस्पर सुख-दुःख के साथी होने का स्वप्न देखते हैं, यथावश्यकता एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने, परस्पर सहायक होने की संभावना तैयार कर लेते हैं ।

लेकिन, इन सम्बन्धों का स्वरूप बहुत जटिल होता है, तथा इनसे उत्पन्न होने वाली संभावनाएँ बड़ी अनिश्चित होती हैं । ये सम्बन्ध मानव-स्वभाव पर आश्रित होने के कारण जटिल, अनिश्चित तथा सदासद् दोनों प्रकार के हो सकते हैं । ये प्रीतिकर हो सकते है तो अप्रीतिकर भी हो सकते हैं । इनमे यदि परस्पर प्रीति, सहायता, सहानुभूति की संभावना बनती है तो परस्पर ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हो जाने की भी उतनी ही प्रबल सभावना रहती है । अखिरकार ईर्ष्या-द्वेष आपस के लोगो में ही तो उत्पन्न होते हैं । अतएव, सम्बन्ध-सूत्र जुडने के समय प्रीतिकर भावनाओं के साथ-साथ ईर्ष्या-द्वेष आदि अप्रीतिकर भावनाओं के लिए भी आधार बन जाता है । यदि अपने साथी-सम्बन्धियों में से कुछ के सद्गुणों, सुकर्मों के कारण कुछ लोगों मे उनके प्रति पूज्य-बुद्धि उत्पन्न होती है, वे उनकी प्रशंसा की कामना करते है तो कुछ लोग अपने किसी साथी की बढती और सुख-समृद्धि देखकर जलने भी लगते हैं । वे स्वय तो आलस्यादिजन्य असमर्थता के कारण वैसी सुख-समृद्धि अर्जित कर नहीं पाते, बस अपने साथी से ईर्ष्या करने लगते हैं, यहाँ तक कि उसके प्रति द्वेष का अनुभव भी करने लगते हैं ।

वास्तव में, भविष्य बडा अनिश्चित है । आचार्य शुक्ल भविष्य की सुनिश्चित अनिश्चिता

का साग्रह प्रतिपादन करते हैं । एक ओर भविष्य की अनिश्चता अटल है, कोई भविष्य के इस स्वभाव को परिवर्तित नहीं कर सकता, दूसरी ओर सृष्टि के व्यापारो की गति बड़ी रहस्यमय है, मनुष्य के स्वभाव की गतियाँ अगम्य है, उसकी जटिलताएँ दुर्बोध हैं । ऐसे मे मनुष्य-कृत किसी व्यवस्था, किसी भी विधान के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता । कल्याण के उद्देश्य से निष्पन्न की गई कोई व्यवस्था केवल कल्याण का ही संपादन करेगी, लोक-मंगल के उद्देश्य से उद्भावित विधान लोक का मंगल ही करेंगे, अमंगल नहीं करने लगेंगे । इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि भविष्य की गति अनिश्चित है और उसका यह स्वरूप दुर्ज्ञेय है ।

आचार्य शुक्ल का मत है कि प्राकृतिक तथ्यों एवं घटनाओ, वस्तुओं एवं व्यापारों आदि की दिव्यता-विराटता, असीम शक्तिमत्ता आदि के समक्ष मनुष्य, उसका समस्त ज्ञान और कौशल, उसकी समस्त शक्ति और युक्ति निरर्थक और नगण्य है । प्रकृति के विधान और व्यापार अटल और दुर्ज्ञेय हैं, वे मनुष्य को हतप्रभ कर देते हैं, तमाम दुनिया की कोशिश करके, युक्तियाँ भिड़ाकर, विद्या-बुद्धि का उपयोग करके भी मनुष्य प्रकृति के नियमो-विधानो को परिवर्तित नहीं कर सकता, लाख प्रयत्न करने पर भी वह भविष्य की अनिश्चयता को बदल नहीं सकता, उसको निश्चयता मे परिणत नहीं कर सकता । इसलिए समाज और लोक के बीच उसके द्वारा निष्पन्न कोई विशेष व्यवस्था किसी एक विशेष परिणाम तक ही सीमित रहेगी अथवा कोई एक विशेष परिणाम अवश्य उत्पन्न करेगी, इसके बारे मे भी वह आश्वस्त और निश्चित नहीं हो सकता ।

टिप्पणी

(क) जागरणकालीन परिस्थितियो मे इस प्रकार का सामाजिक उद्‌बोधन विशेष महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है ।

(ख) आचार्य शुक्ल की यह 'हम' शैली पाठक वर्ग से आत्मीयता स्थापित करने में विशेष सहायक होती है ।

(ग) वैचारिक गभीरता-सघनता का एक श्रेष्ठ नमूना ।

(घ) स्वानुभूत मनोवैज्ञानिक सत्य का निर्वचन तथा प्राकृतिक-व्यापारो से उसका तारतम्य-स्थापन ।

(19) सम्पन्न दशा वह है जिसमे जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसे दूसरे को भी प्राप्त करते देख हमें दु.ख होता है । सम्पन्नता में दूसरे को अपने से बढ़कर होते देख दु.ख होता है । सम्पन्न दशा मे दूसरे को अपने बराबर होते देख दुःख होता है । असम्पन्न दशा मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से बढ़कर रहे, उसके बराबर न रहें । सम्पन्न की ईर्ष्या मे आकाक्षा बढी-चढ़ी होती है, इससे उसका अनौचित्य भी बढकर होता है । असम्पन्न ईर्ष्या वाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से बचाने के लिए आकुल रहता है, पर सम्पन्न ईर्ष्या वाला दूसर को नीचा समझते रहने के लिए आकुल रहता है ।

आचार्य शुक्ल विशेष का विवचन विश्लेषण करने के क्रम में ठसके

भदो-प्रभेदों, विविध प्रकारों और दशाओं के अतिरिक्त उससे तुलनीय अथवा उसके विलोम मनोविकारों पर भी विचार करते है । वे द्वन्द्वात्मक रीति से उनका विवेचन करते हुए उनके वैशिष्ट्य, तारतम्य और साम्य-वैषम्य का भी बहुत तर्कसगत और सारगर्भित निर्वचन प्रस्तुत करते है ।

'ईर्ष्या' शीर्षक निबन्ध में ईर्ष्या की विस्तृत चर्चा के क्रम मे आचार्य शुक्ल बताते है कि समाज में ईर्ष्यालुओं के दो रूप दिखाई पडते हैं--असम्पन्न और सपन्न । असम्पन्न ईर्ष्यालु दूसर को उसकी इच्छा के विरुद्ध ऐसी वस्तु प्राप्त करते देख दुखी होता है जो उसके पास नहीं होती । इसीलिए वह उस पर मन ही मन चिडचिड़ाता भी है ।

वैसे, क्रोध का भाव ईर्ष्या के साथ अनिवार्यतः जुडा रहता है, पर वह क्रोध बिल्कुल जड होता है ।

उल्लिखित निबध की आलोच्य पक्तियों मे आचार्य शुक्ल ईर्ष्यालुओं के असम्पन्न ओर सम्पन्न रूपो की द्वन्द्वात्मक रीति से चर्चा के क्रम को अग्रसर करते हुए विशेषकर सम्पन्न की ईर्ष्या के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते है ।

सम्पन्न ईर्ष्यालु दूसरे को भी वह वस्तु प्राप्त करते देखकर ईर्ष्या से जलने लगता है और दुखी होने लगता है जो उसके पास पहले से ही है । सच है, मानव-स्वभाव की गति अद्‌भुत है । एक के पास कोई वस्तु हो और दूसरा अपनी किसी प्रकार की असमर्थता के कारण उसको अर्जित न कर सके तो पहले से उसकी जलन समझ में आती है । लेकिन जिस वस्तु का सुख व्यक्ति पहले से उठा रहा है, वस्तु के आधिपत्य और भोग का गौरव और आनंद जिसको पहले से ही मिल रहा है वह किसी दूसरे को भी वही वस्तु प्राप्त करते देख कर उससे क्यो जले ? उसकी ईर्ष्या का औचित्य समझ में नहीं आता ।

लेकिन यही तो मानव-स्वभाव का अद्‌भुतत्व है । उसकी गति दोनों ओर है । एक ओर तो वह दूसरे के बराबर न होने के कारण समाज में अपने को दूसरे के बराबर न दिखाने के कारण दुखी होता है तो दूसरी ओर यदि कोई व्यक्ति उसकी बराबरी मे आ जाता है तो भी दुखी होता है ।

वास्तव मे, जैसा कि अभिधान से ही स्पष्ट है, सम्पन्न ईर्ष्या असम्पन्न ईर्ष्या का विलोम-रूप है । असम्पन्न ईर्ष्या में यदि वस्तु विशेष की दूसरे के पास उपस्थिति और अपने पास अनुपस्थिति पर दुःख होता है तो सम्पन्न ईर्ष्या में अपने पास उपस्थित वस्तु की दूसरे के पास भी उपस्थिति हो जाने पर दुःख होता है । अर्थात् सम्पन्न ईर्ष्या एक ऐसी विशिष्ट मनःस्थिति है जिसमें ईर्ष्यालु अपने को प्राप्त वस्तु को दूसरे को भी प्राप्त होते देखकर दुखी होता है । तात्पर्य यह है कि यदि असम्पन्न में दूसरे के अपने से अधिक हो जाने, बढ जाने की प्रतीति का दुःख होता है, तो सम्पन्न दशा मे दूसरे के अपने बराबर आ जाने की प्रतीति दुःखदायी होती है ।

आचार्य शुक्ल के अनुसार ईर्ष्यालुओं के ये दोनो रूप अपनी-अपनी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति के कारण संघटित होते हैं । असम्पन्न ईर्ष्यालु की प्रवृत्ति दूसरे की अपेक्षा हीनतर न रहन दूसरे के बराबर रहन की होती है वह केवल यह चाहता है कि समाज मे वह

दूसरों से घटकर न रहे, समाज दूसरो की तुलना में उसे हीनतर या छोटा न समझे । वह दूसरो की बराबरी मे रहना चाहता है, वह समाज के समक्ष अपने को दूसरो के बराबर प्रस्तुत होते देखना चाहता है । सामाजिक न्याय की दृष्टि से उसकी यह इच्छा बहुत अनुचित नहीं मानी जा सकती । परतु, इसके विपरीत, सम्पन्न ईर्ष्यालु की प्रवृत्ति सदा दूसरों से बढकर रहने और समाज के समक्ष अपने को दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठतर रूप में प्रस्तुत होते हुए देखने की होती है, तथा यह भी होती है कि दूसरे उसकी बराबरी में न आने पावें । यदि दूसरे उसके बराबर आ जाते हैं या वह दूसरो को समाज के समक्ष अपनी बराबरी मे प्रस्तुत होते हुए देखता है तो वह दुखी होता है । उसमें दूसरों की अपेक्षा बढ़कर रहने, दूसरो की तुलना मे बड़ा समझे जाने की महत्त्वाकांक्षा बहुत प्रबल होती है ।

आचार्य शुक्ल सम्पन्न ईर्ष्यालु की प्रबल इस महत्वाकाक्षा को अपेक्षाकृत बहुत अनुचित मानते है । संभवत: इसको अनुचित मानने का कारण वह सामाजिक न्यायदृष्टि है जो समतामूलक है, जो समाज मे सब मनुष्यों को एक समान मानती है, किसी को बड़ा-छोटा नही मानती । और यदि कोई इसके प्रतिकूल आचरण करके दूसरो की तुलना मे अपने को बड़ा मानने या समझने की कोशिश करता है तो वह उसके इस प्रयत्न को भी गर्हित और अनुचित मानती है ।

असम्पन्न ईष्यालु की इच्छा बचावपक्षीय होती है, सम्पन्न ईर्ष्यालु की आक्रमणपक्षीय । असम्पन्न ईर्ष्यालु केवल इसलिए उत्सुक, चिंतित और उद्विग्न रहता है कि समाज मे वह दूसरो की तुलना मे कहीं छोटा और नीचा न समझा जाने लगे जबकि सम्पन्न ईर्ष्या वाला इसके लिए उत्सुक और व्यग्र रहता है कि समाज में दूसरा बराबर उससे नीचा या छोटा ही समझा जाता रहे ।

लगता है कि आचार्य शुक्ल असम्पन्न-ईर्ष्यालु पर कुछ सहानुभूतिपूर्वक विचार करते है । वे मानते हैं कि असम्पन्न की ईर्ष्या में निराशा और अपनी कमी का दुःख मिला रहने के कारण उसकी ईर्ष्या बहुत गंभीर और सघन रूप से मलिन, अपवित्र अथवा सदोष नहीं प्रतीत होती है ।

टिप्पणी

(क) आचार्य की द्वन्द्वात्मक विवेचन-शैली का उद्देश्य प्रतिपाद्य को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना होता है, जिसमे वे पूर्णत: सफल होते हैं ।

(ख) ईर्ष्या का यह सूक्ष्म-गहन विश्लेषण आचार्य शुक्ल के व्यापक एवं गहरे लोकानुभव पर आधारित है ।